ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता साहित्यकार

(पुरस्कार-जयी कृतिकारों और पुरस्कृत कृतियों का संपूर्ण परिचय)

ज्ञानपीठ पुरस्कार
विजेता साहित्यकार

संकलन-संपादन

वीरेन्द्र जैन

ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रणेता
श्रीमती रमा रानी जैन
और
भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक
साहू शांतिप्रसाद जैन
की पुण्यस्मृति को
सादर समर्पित

रचना विशेष के लिए पुरस्कृत साहित्यकार

* संयुक्त विजेता

समग्र लेखन के लिए पुरस्कृत साहित्यकार

समय विशेष में विशिष्ट रचनाकर्म के लिए पुरस्कृत साहित्यकार

यह पुरस्कार, यह संकलन क्यों !

ज्ञानपीठ पुरस्कार की इस रूप में परिकल्पना के पीछे मुख्य उद्देश्य यह था कि यद्यपि भारत मे प्रत्येक भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति के लिए अलग-अलग प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार है, ऐसा कोई पुरस्कार नही जो इन सब भाषाओं की अनेक कृतियों में से चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ अखिल भारतीय कृति के लिए हो। ऐसे पुरस्कार की संस्थापना राष्ट्रीय आवश्यकता थी और स्वभावतः ऐसा पुरस्कार मूल्य एवं मात्रा मे इतना प्रचुर भी होना आवश्यक था कि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुरूप माना जाये। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा इस पुरस्कार का प्रवर्तन हुआ।

वास्तव में एक लाख रुपये की वार्षिक राशि या पुरस्कार को नियान्वित करने मे प्रतिवर्ष इतने ही रुपये के व्यय का प्रबंध करना उतना महत्वपूर्ण नही था जितना यह दृष्टि कि भारतीय साहित्य को एक समग्र दृष्टि से देखा जाये तथा भाषा और क्षेत्र की सीमाओं को लाघकर इस साहित्य का मूल्यांकन किया जाये, इसके मानदंडों की खोज और संवर्द्धना की जाये। इसी प्रकार श्रेष्ठ कृति के लेखक का अभिनन्दन एक लाख रुपये (अब दो लाख) की राशि के समर्पण में उतना नहीं जितना इस बात में कि भारतीय साहित्य की समकालीन कृतियों में उसकी कृति को एक विशिष्ट स्थान मिला और देश के साहित्यकारों ने ही एक निश्चित योजना के अन्तर्गत उसे सम्मानित किया। यह ठीक है कि लेखक आभ्यन्तर-प्रेरणा के कारण लिखता है, और कई अन्य कारणों के योगदान से ही कोई कृति क्लैसिक और

वरेण्य बन पाती है, तो भी सामाजिक मान्यता तथा उसकी प्रतिभा के फल के प्रति समूचे राष्ट्र का ऋणी भाव लेखक को आश्वस्त करता है कि उसकी कृतियां और भी अधिक व्यापक रूप से पढ़ी जायेंगी और समादृत होंगी। राष्ट्रीय पुरस्कार तथा अन्य भेंट-उपहार सब इसी मान्यता के सहज प्रतीक हैं।

योजना की प्रारम्भिक रूप-रेखा बनाते समय मात्र इतना ही अनुभव अन्य स्रोतों से प्राप्त था कि प्रत्येक भारतीय भाषा में प्रकाशित साहित्यिक कृतियों में से एक कृति को चुनने का विधि-विधान क्या है। मुख्य समस्या यह थी कि इन कृतियों में से एक कृति को किस प्रकार चुना जाये जबकि भारतीय भाषाओं की संख्या बहुत है, एक साथ सारी भाषाओं को जानने वाले विद्वानों का अभाव है, साहित्यिक कृति के मूल्यांकन में केवल भाषा-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, विवेकशील समीक्षा की दृष्टि भी आवश्यक है, अनुवाद को मूल्याकन का माध्यम बनाने की अलग सीमाएं हैं आदि-आदि। फिर यह, कि यदि प्रयत्न करके इन समस्याओं का अलग-अलग समाधान खोजा भी गया तो सारे समाधानों को एक सूत्र में पिरोकर सारी प्रक्रिया को योजना की ऐसी इकाई किस प्रकार बनाया जाये कि साहित्य जगत आश्वस्त हो कि कार्य प्रामाणिक ढंग से और निष्ठापूर्वक किया गया है। एक बात प्रारम्भ से ही स्पष्ट थी कि किसी भी स्थिति में ऐसा निर्णय कभी भी नहीं किया जा सकेगा जो बिना अपवाद के सबको मान्य हो, सबको संतुष्ट कर सके। वास्तव में ऐसा कभी किसी भी पुरस्कार के संबंध में संभव नहीं हुआ है, चाहे कृतियों के मूल्यांकन का क्षेत्र कितना भी सीमित रहा हो।

इन सब कठिनाइयों के समाधान का एक ही उपाय था कि देश के मनीषियों, साहित्यकारों और इस क्षेत्र के अनुभवी व्यक्तियों तक पहुंचा जाये और व्यापक विचार-विमर्श मे जो सुझाव प्राप्त हों उनके आधार पर सर्वसम्मत निष्कर्ष निकाले जायें और योजना को अंतिम रूप दिया जाये।

उक्त प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रवर परिषद् का गठन सर्वाधिक

महत्व और प्राथमिकता का कार्य था। अधिक से अधिक सोच-विचार और प्रयत्न के उपरांत एक ऐसी प्रवर परिषद् गठित की गयी जिसके सदस्य योजना को कार्यान्वित करने में आस्थावान थे। सौभाग्य से डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का नेतृत्व प्राप्त हो गया। प्रवर परिषद् का गठन करके उसे एक बनी-बनायी योजना को क्रियान्वित करने का दायित्व दे दिया गया हो, सो नहीं, सारी योजना पर प्रवर परिषद् ने पुनर्विचार किया और उसे अंतिम रूप दिया।

× × ×

पुरस्कार के लिए समग्र भारतीय साहित्य की संविधान सम्मत भाषाओं मे से प्रतिवर्ष एक पुस्तक को चुनकर उसके सर्जक को सम्मानित करने का संकल्प अनेक समीक्षको और हितैषियों को इतना विकट, दुस्साहसिक और जोखिमभरा लगा कि उन्होने बहुत सद्भावनापूर्वक सचेत किया। साहू शातिप्रसाद जैन औद्योगिक और व्यावसायिक महत्वाकांक्षी योजनाओ को हाथ में लेकर सफल बनाने की कला में दक्ष थे—वह बहुत दूरदर्शी थे, किन्तु यह क्षेत्र साहित्य का था, वह भी भारत के ऊंचे से ऊचे बौद्धिक वर्ग की साधना के मूल्यांकन का। उन्होने उचित समझा कि उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन इस चुनौती-भरे दायित्व को ज्ञानपीठ की अध्यक्षा होने के नाते स्वीकार करें। यह रमाजी के व्यक्तित्व और कृतित्व की चमत्कारी संभावनाओं के प्रस्फुटन का क्षण था।

पुरस्कार योजना किस प्रकार रूपायित हुई, वह किस प्रकार परवान चढी, किस प्रकार राष्ट्र की साहित्यिक प्रतिभा के सामूहिक योगदान ने इसे सफल बनाया, इसकी रोमांचक कथा यह पुस्तक आप तक अवश्य संप्रेषित करने मे सफल हो सकेगी।

इस पुस्तक की सार्थकता इस बात से भी है कि हमारे लेखक और पाठक इन सत्ताईस पुरस्कारविजेताओं के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो। कन्नड़ और हिंदी के चार-चार लेखक, बांग्ला और मलयालम के तीन-तीन, गुजराती, तेलुगु, उर्दू, उड़िया और मराठी के दो-दो तथा तमिल, पंजाबी असमिया के एक-एक लेखक

अब तक पुरस्कृत हुए हैं। (सिंधी और संस्कृत को अभी तक यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका है।) इनमें पंद्रह मुख्यतः कवि है और बारह उपन्यास-कहानीकार।

× × ×

ज्ञानपीठ में अपने कार्यकाल के दौरान मेरे मन में इन कालजयी रचनाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का संक्षिप्त परिचयात्मक एक संकलन तैयार करने का विचार आया था पहली-पहली बार। सारिका के तीन ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता अंकों की तैयारी के दौरान यह विचार फिर-फिर मन में स्थायी रूप से घर बना गया। आज उस विचार का प्रतिफल आपके हाथों मे सौपते हुए खुश हूं। इस पुस्तक की तैयारी के दौरान प्रत्येक पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर ज्ञानपीठ द्वारा वितरित की जाने वाली प्रसार-सामग्री ने मुझे काफी मदद पहुंचाई। उस प्रसार-सामग्री की तैयारी में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जिन-जिन महानुभावों का योगदान रहा, मैं उन सबका हृदय से आभारी हूं। यह सुखद संयोग ही है कि ठीक 28 वर्ष पहले आज ही के दिन इस पुरस्कार योजना को भी क्रियान्वित करने का अन्तिम निर्णय लिया गया था। आज ही के दिन न केवल दो वर्ष पहले इस पुस्तक का पहला संस्करण तैयार हुआ अपितु यह सवर्धित संस्करण भी। पाठकों, शोधार्थियों ने जिस उदारता से इसे अपने लिए उपयोगी स्वीकारा, उससे मेरा उत्साहवर्धन हुआ है। आपको भी पुरस्कृत रचनाकारों, पुरस्कृत-कृतियों और ज्ञानपीठ पुरस्कार के संदर्भ में जो भी आप जानना चाहे, वह यह संकलन बता सके, तभी मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

सी-3/55, सादतपुर कालोनी
करावल नगर रोड, दिल्ली-94

वीरेन्द्र जैन
16-3-91

पुरस्कार की उपलब्धि

ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्रगति से मैं प्रारम्भ से ही परिचित रहा हूं। इसमे संदेह नही कि यह अपने ढंग का पहला एवं वैशिष्ट्यपूर्ण भारतीय पुरस्कार है जिसे पाने मे सर्वोच्च कोटि के साहित्यकार को गर्व का अनुभव होता है। वास्तव मे यह पुरस्कार स्वयं उत्कृष्टता का प्रतीक बन गया है। साहित्य समुदाय श्रीमती रमा जैन का आभारी रहेगा।

संविधान-सम्मत पन्द्रह भाषाओं की कृतियो मे से भारतीय साहित्य की श्रेष्ठ रचना का चयन अत्यन्त कठिन काम है। किन्तु प्रवर परिषद् के मेरे सहयोगी पुरस्कार-प्रक्रिया के अन्तर्गत पूरे ध्यान से, निष्ठा से, निष्पक्षता से यह चयन करने का प्रयत्न करते आये है।

पुरस्कार का उद्देश्य है, भारत की विभिन्न भाषाओं में लिखे जाने वाले समकालीन साहित्यिक सृजन को 'भारतीय साहित्य' के रूप में पहचानना, उसमें से श्रेष्ठ साहित्य को चुनना, इस प्रकार भारतीय साहित्य के मानदण्ड की कसौटी तैयार करने का प्रयत्न करना और इस कसौटी को अधिक-से-अधिक व्यापक बनाना।

इसमें संदेह नही कि भारतीय भाषाओं मे साहित्यिक सृजन का इतिहास समान रूप से समृद्ध नही है। कुछ भाषाओं मे ऐसे कई मूर्धन्य लेखक है जो पुरस्कार विजेताओ के समकक्ष माने जा सकते हैं। यदि उन्हे पुरस्कार प्राप्त नही हुआ तो उसका एक मुख्य कारण यह है कि जिस भाषा को किसी वर्ष पुरस्कार प्राप्त होता है वह अगले तीन वर्ष तक पुरस्कार के लिए प्रतियोगी नही होती। उन वर्षों मे दूसरी भाषाओं को आगे आने का अवसर मिल जाता है। इस नियम के पीछे

ज्ञानपीठ पुरस्कार का यह ध्येय है कि यथासंभव सभी भाषाओं के अच्छे लेखकों को प्रोत्साहन मिले और किसी भाषा के लेखक इस कारण सर्वथा उपेक्षित न हों कि अन्य भाषाएं प्रतिष्ठा की दौड़ में कई कारणों से आगे निकल गयी हैं। प्रवर परिषद् को प्रसन्नता है कि ज्ञानपीठ पुरस्कार के निर्णयों मे इन दोनों स्थितियों को प्रतिबिम्बित किया गया है, जो सहज और स्वाभाविक है।

अट्ठाईस वर्ष पहले जब स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन ने अपने सहयोगियों से यह प्रश्न किया था कि क्या भारतीय भाषाओं में प्रकाशित कृतियों में से प्रतिवर्ष एक सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन नहीं किया जा सकता ? तो कुछ शंकाएं उठी थी, जो उस समय स्वाभाविक थीं। पर वह समझती थी कि यह अवश्य संभव है।

विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों से व्यापक विचार-विनिमय के बाद उन्होंने अपने विचार को व्यावहारिक रूप भी दिया। इस अवसर पर इन सभी साहित्य-मर्मज्ञों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना मैं आवश्यक समझता हूं। उनके विवेक और निर्णय की प्रामाणिकता के साथ-साथ उनके परिश्रम के फलस्वरूप ही ज्ञानपीठ पुरस्कार ने इतना मान और महत्व अर्जित कर लिया है कि साहित्य की उत्कृष्टता का प्रतीक बनने के साथ ही यह सारे देश और राष्ट्र का सर्वोच्च एवं प्रतिनिधि पुरस्कार माना जाने लगा है। हमारे लिए यह बहुत बडी उपलब्धि है। इस देश की साहित्यिक बिरादरी, इसके लिए रमा जी की सदा ऋणी रहेगी।

पे. वैं. नरसिंह राव
अध्यक्ष : ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रवर परिषद्
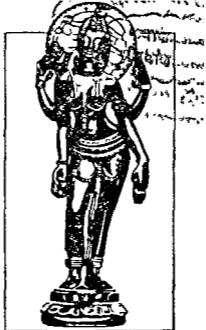
पुरस्कार-प्रतीक वाग्देवी

पुरस्कार के प्रतीक स्वरूप दी जाने वाली वाग्देवी की यह प्रतिमा मूलतः धार, मालवा के सरस्वती मंदिर की है, जिसकी स्थापना उज्जयिनी के विद्याव्यसनी नरेश भोज ने 1035 ईसवी में की थी। यह अब ब्रिटिश म्यूजियम, लदन में है। भारतीय ज्ञानपीठ ने साहित्य-पुरस्कार के प्रतीक के रूप में इसे ग्रहण करते हुए शिरोभाग के पार्श्व में भामंडल और सम्मिलित किया है। उसमें तीन रश्मि-पुंज हैं जो भारत के प्राचीनतम जैन तोरण-द्वार (कंकाली टीला, मथुरा) के 'रत्नत्रय' को प्रतीकित करते हैं। हाथ मे कमंडलु, पुस्तक, कमल और अक्षमाला ज्ञान तथा ऊर्ध्व-चेतना के प्रतीक हैं। पुरस्कार विजेता को इस प्रतिमा की कांस्य अनुकृति भेंट में दी जाती है।

पुरस्कार की पृष्ठभूमि और संविधान

इस पुरस्कार की परिकल्पना का श्रीगणेश 22 मई, 1961 को भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक साहू शान्तिप्रसाद जैन की पचासवीं अब्दपूर्ति के अवसर पर हुआ जबकि उनके परिवार के सदस्यों के मन में यह विचार उपजा कि साहित्यिक या सांस्कृतिक क्षेत्र में किसी ऐसी महत्वपूर्ण योजना का प्रवर्तन किया जाय जो कि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों के अनुरूप हो। इसके फलस्वरूप ही सितम्बर को, जब भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी मण्डल की बैठक में समस्त भारतीय भाषाओं के सुख्यात लेखकों की प्रतिनिधि रचनाओं के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने के उद्देश्य से स्थापित राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला पर विचार चल रहा था, ज्ञानपीठ की अध्यक्ष श्रीमती रमा जैन ने यह प्रश्न उठाया कि "क्या यह सम्भव नहीं कि हम भारतीय भाषाओं में प्रकाशित एक ऐसी पुस्तक चुन सकें जो सर्वश्रेष्ठ कही जाय और जिसे एक बड़ी पुरस्कार राशि दी जाय?" चर्चा के बाद यह उचित लगा कि इस सुझाव पर देश के विभिन्न भागों के साहित्यकारों और साहित्य मर्मज्ञों से व्यापक विचार-विमर्श किया जाय।

इस विचार को व्यावहारिक रूप देने की पहल भी श्रीमती रमा जैन ने की। उन्होंने इसके लिए कुछ साहित्यकारों को 22 नवम्बर, 1961 को, अपने निवास पर आमन्त्रित किया। इस विचार-गोष्ठी मे काका कालेलकर, हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर, जैनेन्द्रकुमार, जगदीशचन्द्र माथुर, प्रभाकर माचवे और श्री अक्षयकुमार जैन ने भाग लिया। इस विचार-विनिमय में एक प्रारम्भिक योजना का रूप उभरकर आया जिसे दो दिन बाद 24 नवम्बर, 1961 को साहू शान्तिप्रसाद जैन ने राष्ट्रपति

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए उनके समक्ष प्रस्तुत किया। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इसकी सराहना की और हार्दिक सहयोग का आश्वासन दिया।

इसके बाद विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों से विचार-विमर्श शुरू हुआ। 6 दिसम्बर, 1961 को कलकत्ता के प्रमुख बांग्ला साहित्यकारों और समीक्षकों से इस पुरस्कार योजना पर विचार-विनिमय हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद 1 जनवरी, 1962 को कलकत्ता में ही अखिल भारतीय गुजराती साहित्य परिषद और भारतीय हिन्दी परिषद के वार्षिक अधिवेशनों में भाग लेने वाले लगभग 72 साहित्यकारों से सम्मिलित रूप से परामर्श किया गया। इसी बीच योजना की लगभग साढ़े चार हजार प्रतियां देश की विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं और साहित्यकारों को उनकी प्रतिक्रियाएं जानने के लिए भेजी गईं। इस विचार-विनिमय से यही निष्कर्ष निकला कि यह प्रस्ताव सराहनीय है और कठिनाइयां होते हुए भी इसको कार्यान्वित किये जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अब योजना को अंतिम रूप देने के लिए 2 अप्रैल, 1962 को दिल्ली में भारतीय ज्ञानपीठ और टाइम्स ऑफ इंडिया के संयुक्त तत्त्वावधान में एक वृहद् विचार-गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमें देश की सभी भाषाओं के लगभग 300 मूर्धन्य साहित्यकारों ने भाग लिया। इसके विभिन्न सत्रों की अध्यक्षता डॉ० वी० राघवन और श्री भगवतीचरण वर्मा ने की और इसका संचालन डॉ० धर्मवीर भारती ने किया। काका कालेलकर, हरेकृष्ण मेहताब, नसीम इजेकिल, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉ० मुल्कराज आनन्द, सुरेन्द्र महान्ती, देवेश दास, सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह दिनकर, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० वेन्द्रे, जैनेन्द्रकुमार, मन्मथनाथ गुप्त आदि प्रख्यात साहित्यकारों ने इसमें भाग लिया। इस गोष्ठी के दो सत्रों में पुरस्कार प्रस्ताव पर विस्तार से चर्चा हुई और योजना स्वीकार की गयी।

योजना को कार्यान्वित करने के लिए डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से प्रवर परिषद् की अध्यक्षता स्वीकार करने का अनुरोध किया गया। श्रीमती रमा जैन को सम्बोधित अपने 19 नवम्बर, 1962 के पत्र में उन्होंने लिखा,

'इसमें तो कोई कहने की बात नहीं कि योजना मुझे बहुत सुन्दर लगी पर अभी तक मैं अध्यक्षता सम्बन्धी आपके निमन्त्रण को इस कारण टालता आया कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता और इसलिए इतनी बड़ी जिम्मेदारी को संभालने के लिए संकोच कर रहा हूं। पर मैं यह भी चाहता हूं कि इस योजना में अब देर नहीं होनी चाहिए और शीघ्र ही इस कार्य को आरंभ कर देना चाहिए। अतः मैं इसकी अध्यक्षता के उत्तरदायित्व को स्वीकार करता हूं।' पर दुर्भाग्य से प्रवर परिषद की पहली बैठक, जिसकी तिथि 16 मार्च, 1963 स्वयं राजेन्द्र बाबू ने निश्चित की थी, से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गयी। वह बैठक काका कालेलकर की अध्यक्षता में हुई और उसके बाद प्रवर परिषद की अध्यक्षता का भार डॉ० सम्पूर्णानन्द को सौंपा गया।

विभिन्न भाषाओं में एक सर्वोत्कृष्ट कृति (जैसाकि पहले 17 पुरस्कारों तक नियम था) या साहित्यकार (जैसाकि 18वें से 22वें पुरस्कार तक नियम था) या एक समय विशेष में किसी भी साहित्यकार द्वारा किया गया महत्वपूर्ण योगदान (जैसा कि 23वें से पुरस्कार से नियम है) के चयन का कार्य अत्यंत कठिन और जटिल है। मुख्यतः शंकाएं इसी चयन प्रक्रिया को लेकर उठी थीं। बहुत से प्रश्न उठना स्वाभाविक था। जब एक ही भाषा की सर्वोत्कृष्ट कृति/लेखक का चयन करने में कठिनाई उत्पन्न होती है और कभी-कभी मतभेद खड़े हो जाते हैं तब कई भाषाओं में से एक कृति या साहित्यकार की खोज कितनी दुष्कर होगी? यदि हर भाषा से उसके विद्वानों की सहायता से कुछ कृतियां छांट भी ली गईं तो उनका तुलनात्मक मूल्यांकन कैसे होगा? उसकी प्रक्रिया और मानदण्ड कैसे होंगे? क्या ऐसे विद्वानों और साहित्यकारों का मिलना असम्भव-सा नहीं होगा जो कई भाषाओं के मर्मज्ञ हों? दूसरी ओर इन कठिनाइयों का निवारण यदि हो भी जाय तो भी इतनी कष्टसाध्य प्रक्रिया के बाद जो निर्णय होंगे, उनकी साहित्य जगत में क्या मान्यता होगी? अन्ततः उन सब साहित्यकारों और विद्वानों ने जिन्होंने इस योजना को व्यावहारिक रूप दिया, इन सब प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर निकाल ही लिये। अब 25 वर्षों से अधिक के अनुभव के बाद शायद यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्य-प्रेमियों की व्यापक भागीदारी, सूक्ष्म विश्लेषण और वस्तुपरक निरीक्षण पर आधारित पुरस्कार

की चयन प्रक्रिया ने इस चुनौती-भरे कार्य को संभव कर दिखाया है।

विभिन्न भाषाओं के विभिन्न साहित्यकारों, समालोचकों और प्रबुद्ध पाठकों से प्रस्ताव आमंत्रित करने के साथ चयन प्रक्रिया का प्रारंभ होता है। इन सबकी व्यापक सूची समय-समय पर संशोधित होती रहती है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय और साहित्यिक तथा भाषा संस्थानों से भी प्रस्ताव भेजने का अनुरोध किया जाता है। प्राप्त प्रस्ताव सम्बन्धित भाषा परामर्श समिति को भेजे जाते हैं। हर भाषा की एक ऐसी समिति है जिसमें तीन सदस्य होते हैं। सामान्यतः सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष होता है। लेकिन कोई भी सदस्य दुबारा या कभी-कभी उसके बाद भी समिति का सदस्य मनोनीत हो सकता है। सदस्यों की नियुक्ति प्रवर परिषद द्वारा की जाती है। ये सभी अपनी-अपनी भाषा के जाने-माने मर्मज्ञ साहित्यकार, समालोचक या अध्यापक होते हैं।

भाषा समितियों पर यह प्रतिबन्ध नहीं है कि वे अपना विचार-विमर्श प्राप्त प्रस्तावों तक ही सीमित रखें। उन्हें किसी भी लेखक पर विचार करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वास्तव में प्रवर परिषद उनसे यह अपेक्षा करती है कि संबद्ध भाषा का कोई भी पुरस्कारयोग्य साहित्यकार विचार-परिधि से बाहर न रह जाय। किसी साहित्यकार पर विचार करते समय भाषा समिति को उसके सम्पूर्ण कृतित्व का मूल्यांकन तो करना ही होता है साथ ही सम-सामयिक भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि में भी उसको परखना होता है। यहां यह स्पष्ट कर दिया जाय कि नियमों के अनुसार जिस भाषा को एक बार पुरस्कार मिलता है उस पर अगले तीन वर्ष तक विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष 12 भाषाओं के ही साहित्यकारों पर विचार किया जाता है। भाषा परामर्श समितियों की अनुशंसा प्रवर परिषद के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। प्रवर परिषद में कम-से-कम 7 और अधिक-से-अधिक 11 सदस्य होते हैं। इन्हीं में से एक सदस्य अध्यक्ष होता है। सभी सदस्यों की भाषा और साहित्य के क्षेत्र में विशेष ख्याति होती है। आरम्भ में प्रवर परिषद का गठन भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी मण्डल द्वारा किया गया था। किन्तु तदनन्तर रिक्तियों की पूर्ति परिषद की संस्तुति पर ही हुई है और होती है। परिषद् की सदस्यता तीन वर्षों के लिए होती

है किन्तु कोई भी सदस्य इस अवधि के बाद भी पुनः मनोनीत किया जा सकता है। परिषद् के अध्यक्ष और सदस्य विशिष्ट और प्रख्यात विद्वान् ही होते रहे हैं। जैसाकि पहले संकेत किया जा चुका है, भारत के प्रथम राष्ट्रपति और साहित्य मर्मज्ञ डॉ० राजेन्द्रप्रसाद प्रवर परिषद् के पहले अध्यक्ष थे। वर्तमान अध्यक्ष हैं श्री पा० वें० नरसिंह राव, जो स्वयं एक सुपरिचित भाषाविद् और साहित्यकार हैं। पूर्व में आचार्य कालेलकर, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० बेजवाडा गोपाल रेड्डी, डॉ० कर्णसिंह, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० विनायक कृष्ण गोकाक, डॉ० उमाशंकर जोशी, डॉ० नीहार रंजन राय, डॉ० रविकुमार दास गुप्ता, डॉ० मसूद हुसैन, प्रो० एम० वी० राजाध्यक्ष, डॉ० आदित्य नाथ झा, श्री जगदीश चन्द्र माथुर सदृश विद्वान् और साहित्यकार अध्यक्ष व सदस्य रहे हैं।

प्रवर परिषद् भाषा परामर्श समितियों की सस्तुतियों का तुलनात्मक मूल्यांकन करती है। इसके लिए आवश्यक होता है तो विचारार्थ लेखक के साहित्य का हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद कराया जाता है। आवश्यकतानुसार विचारार्थ साहित्यकारों के तुलनात्मक अध्ययन प्रख्यात और विद्वान् समालोचकों से भी कराये जाते हैं। विचार करते समय किसी भी साहित्यकार के सम्पूर्ण कृतित्व को ध्यान में रखते हुए विशेष रूप से यह देखा जाता है कि उसके साहित्य का अपनी भाषा के साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। साथ ही यह भी कि क्या उसके प्रभाव की व्यापकता अन्य भाषाओं तक फैली है। उसके साहित्य में भारतीय मूल्यों का कहां तक समावेश हुआ है और उसके साहित्य में स्थायित्व का गुण भारी मात्रा में है या नहीं? इस सुचिन्तित पर्यालोचन के फलस्वरूप ही पुरस्कार के लिए किसी साहित्यकार का अन्तिम चयन होता है। यह स्पष्ट कर दिया जाय कि इस चयन का पूरा दायित्व प्रवर परिषद् का है और भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी मण्डल का इसमें कोई हाथ नहीं होता। इस कष्टसाध्य प्रक्रिया की निष्पक्षता को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है और चयन के विरुद्ध कभी कोई उल्लेखनीय विवाद नहीं खड़ा हुआ।

यही कारण है कि ज्ञानपीठ पुरस्कार भारतीय साहित्य में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त सम्मान माना जाता है। इसकी धनराशि, दो लाख रुपये, इस

देश के अन्य सभी साहित्यिक पुरस्कारों से अधिक है। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे बहुभाषी राष्ट्र में इस प्रकार का कोई और पुरस्कार है ही नहीं। हमारे संविधान में 8वें परिशिष्ट में परिगणित 15 भाषाओं को मान्यता प्राप्त है। इन भाषाओं में अपने अलग-अलग कई प्रतिष्ठित, राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक पुरस्कार हैं। लेकिन इन सभी भाषाओं में से चुनकर किसी सर्वोत्कृष्ट कृति या साहित्यकार के सम्मान में समर्पित भारतीय नागरिकों के लिए यह एकमात्र पुरस्कार है।

भाषा की अनेकरूपता और विविध भाषाओं के साहित्य में प्रतिबिंबित सांस्कृतिक वैविध्य के नाना रूपों के बावजूद भारतीय साहित्य में अनेक ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो उसकी एकता को बद्धमूल करते हैं। आदिकाल से ही भारतीय साहित्य न केवल परम्पराओं का वाहक रहा है, प्रत्युत विरोध का सार्थक स्वर व क्रान्ति का माध्यम भी बना रहा है। विभिन्न भाषाओं में फैले हुए इस साहित्य में से प्रतिवर्ष सर्वोत्कृष्ट कृति/साहित्यकार की खोज करके इस पुरस्कार ने एक राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति की है और अपने में यह राष्ट्रीय एकता का सदनुष्ठान बन गया है। पुरस्कार की घोषणा करते समय श्रीमती रमा जैन ने कहा था : "प्रत्यक्ष ही यह कार्य अत्यन्त कठिन है पर कठिनाइयां अलंघ्य नहीं हैं। राष्ट्रीय महत्व का यह कार्य सम्पन्न करना ही है, फिर इसमें जितना भी श्रम पड़े और जो भी व्यय हो।" असख्य साहित्यकारों के हार्दिक सहयोग से भारतीय ज्ञानपीठ ने इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है।

प्रथम पुरस्कार 1965 में समर्पित किया गया था। तब से अब तक 25 वर्ष की अवधि में 27 साहित्यकार पुरस्कृत हो चुके हैं। दो बार दो-दो साहित्यकार संयुक्त रूप से पुरस्कृत हुए हैं। यह पुरस्कार अब तक हिन्दी और कन्नड़ को चार-चार बार, बांग्ला और मलयालम को तीन-तीन बार, मराठी, तेलुगु, उर्दू, गुजराती और उड़िया को दो-दो बार, और असमिया, पंजाबी और तमिल को एक-एक बार प्राप्त हो चुका है।

साहित्यिक पुरस्कार योजना का प्रस्वीकृत-रूप

1. प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय परम्परानुसार लेखक केवल शब्दशिल्पी, द्रष्टा और सौन्दर्य-स्रष्टा ही नही था, प्रत्युत वह शास्ता, गुरु और सत्यान्वेषी भी था। वह परम श्रद्धेय था। वह शब्द को ब्रह्म मानता था।

अतीत काल में भारतीय साहित्यकारो ने अनेक ऐसी कृतियों की रचना संस्कृत में की थी जिनकी गणना विश्व की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक उपलब्धियों में है। भाषा के रूप में संस्कृत इतनी समर्थ थी कि वह नानावर्ण संस्कृति का वाहन तथा राष्ट्रीय एकता का सशक्त माध्यम हो सकी। यद्यपि प्रधान महत्त्व संस्कृत को दिया गया, तो भी साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रादेशिक भाषाएं भी अपना विशेष आकर्षण-ओज लिये निरन्तर विकासमान होती रही। आज भाषाविदों और साहित्यकारों की यह दृढ़ प्रतीति है कि विभिन्न प्राकृतों-अपभ्रंशों तथा अन्य लोकभाषाओं के अज्ञात भाण्डारों में अनूठी साहित्यिक निधिया छिपी हैं। यह उपयुक्त ही हुआ कि स्वतन्त्र भारत में साहित्य-सर्जन तथा आधुनिक शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रादेशिक भाषाओं के विकास के प्रश्न को प्राथमिकता दी गयी है।

लेखक की प्रतिभा अपनी मातृभाषा की स्वाभाविक जलवायु में ही सर्वाधिक पुष्पित होती है। इस प्रकार, यद्यपि भाषा के माध्यम मे एक प्रादेशिक भाव रहता है, फिर भी एक उत्कृष्ट साहित्यिक कृति की रचना राष्ट्रीय उपलब्धि मानी जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति। यह ठीक है कि लेखक आभ्यन्तर बाध्यता के कारण लिखता है और कई अन्य कारणों के योगदान से ही कोई कृति 'क्लैसिक' बन पाती है, तो भी सामाजिक

मान्यता तथा उसकी प्रतिभा के फल के प्रति समूचे राष्ट्र का ऋणी भाव लेखक को आश्वस्त करते हैं कि उसकी कृतियों को व्यापक रूप से पढ़ा और समादृत किया जाता है। राष्ट्रीय पुरस्कार तथा थैली-तोड़ों की भेंट, सब इसी मान्यता के प्रतीक हैं।

भारत में, जहां प्रत्येक भारतीय भाषा की अलग-अलग सर्वश्रेष्ठ कृति के लिए कितने ही प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार हैं, वहां ऐसा कोई पुरस्कार नहीं है जो इन सब भाषाओं की कृतियों में से चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कृति के लिए हो। ऐसे पुरस्कार की संस्थापना राष्ट्रीय आवश्यकता है और ऐसा पुरस्कार मूल्य एवं मात्रा में इतना प्रचुर भी होना चाहिए कि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों के अनुरूप हो।

2. प्रवर्त्तक संस्था : भारतीय ज्ञानपीठ

भारतीय ज्ञानपीठ नामक शोध एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठान, जिसे संस्कृत, प्राकृत, पाली, तमिल आदि भाषाओं के अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रकाशन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में सर्जनात्मक साहित्य-रचना के प्रोत्साहन के उद्देश्य से साहू शान्तिप्रसाद जैन ने 1944 में स्थापित किया, अब इस योजना द्वारा यह उत्तरदायित्व ले रही है कि समस्त भारतीय भाषाओं में सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोपरि साहित्यिक सर्जनात्मक कृति पर एक लाख रुपये प्रतिवर्ष (अब दो लाख रुपया) पुरस्कार दान के निमित्त अपेक्षित निधि प्रस्तुत करे और योजना के संचालन के लिए उचित तन्त्र की व्यवस्था करे।

3. योजना का तन्त्र

स्थूल रूप में सर्वोत्तम साहित्यिक सर्जनात्मक कृति के चुनाव, मूल्यांकन एवं निर्णय की योजना की परिकल्पना यह है कि पुरस्कार-योग्य पुस्तकों की नामावली प्राप्त करने के लिए एक तन्त्र स्थापित हो, विभिन्न भाषाओं की एक-एक सर्वोत्तम कृति चुनने के लिए प्रत्येक भाषा की परामर्श-समिति नियुक्त हो, इन समितियों के प्रस्तावों के निरीक्षण एवं छांटने के लिए भाषा-वर्गों की कुछ निरीक्षण उप-समितियां हों और सबके अन्त में एक

प्रवर-परिषद् ऐसे दस-बारह देशव्यापी ख्याति-प्राप्त निष्पक्ष और न्याय-निष्ठ व्यक्तियों की रहे जो साहित्य के गुणावगुण परखने और यथोचित मूल्यांकन करने की क्षमता रखते हों।

4. पुरस्कार की पात्रता

पुरस्कार उस किसी भी जीवित भारतीय नागरिक के लिए उपलब्ध रहेगा जिसकी पुस्तक (अथवा पुस्तकें) भारतीय संविधान के परिशिष्ट 8 के अन्तर्गत प्रस्वीकृत किसी भारतीय भाषा में लिखी गयी हो (अथवा हों) एवं निर्धारित कार्य-पद्धति के अनुसार समस्त भारतीय भाषाओं की ऐसी सभी सम-सामयिक कृतियों में सर्वश्रेष्ठ निर्णीत की जाये। लेखक का साहित्य में सम्पूर्ण योगदान तथा उसके सर्जनात्मक कृतित्व का विस्तार अतिरिक्त रूप से विचार-विवेचन में सहायक होगा यदि सर्वश्रेष्ठ निर्णीत होने के लिए उसी, अथवा समान कोटि की कोई और भी पुस्तक प्रतियोगी हो।

सर्जनात्मक कृतित्व से अभिप्राय ऐसी रचना से है जिसके प्रणयन में मौलिकता और अभिव्यक्ति में साहित्यिक सौन्दर्य हो।

5. विचारणीय प्रकाशनों की अवधि

पुरस्कार के लिए वही कृति विचारणीय होगी जो परामर्श समिति-द्वारा विचार किये जाने के समय से कम-से-कम पांच वर्ष पूर्व मुद्रित हो चुकी हो। प्रथम पुरस्कार (जिसे 1965 मे देने का प्रयत्न किया जा रहा है) के लिए जो पुस्तकें विचारणीय होंगी उनकी प्रकाशन तिथि सन् 1920 से सन् 1958 तक की होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक अगले वर्ष के पुरस्कार के लिए अवधि एक-एक वर्ष आगे होती जायेगी अर्थात् द्वितीय पुरस्कार सन् 1921 से सन् 1959 तक प्रकाशित कृतियो पर और तीसरा पुरस्कार सन् 1922 से सन् 1960 तक प्रकाशित कृतियों पर दिया जायेगा। प्रवर परिषद् को अधिकार होगा कि वह अनुभव के आधार पर या अन्य किसी महत्वपूर्ण कारण से पुरस्कार के लिए विचारणीय पुस्तकों की प्रकाशन अवधि में हेर-फेर कर दे।

6. पुरस्कार-योग्य पुस्तकों के सम्बन्ध में प्रस्ताव

साहित्य अकादमी द्वारा मान्य संस्थाओं, भारतीय विश्वविद्यालयों के भाषा-विभागों, जाने-माने समीक्षकों एवं अन्य उपयुक्त माध्यमों तथा व्यक्तियों से अनुरोध किया जायेगा कि वे अपनी-अपनी भाषा की 'सर्वोत्तम और सर्वोपरि सर्जनात्मक साहित्यिक कृति' को यथाविधि प्रस्तावित करें। ज्ञानपीठ द्वारा होनेवाले उपरोक्त उपाय-प्रयत्नों के अतिरिक्त यह छूट उपलब्ध रहेगी कि कोई भी व्यक्ति अपनी विवेचनापूर्ण टिप्पणी के साथ किसी भी उत्कृष्ट सर्जनात्मक साहित्यिक कृति का नाम सम्बन्धित भाषा की परामर्श-समिति के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कर सके।

7. परामर्श-समितियां

प्रत्येक भाषा के लिए एक परामर्श-समिति होगी जिसके सदस्य तीन-चार ऐसे व्यक्ति होंगे जिनकी गणना जाने-माने साहित्य-समीक्षकों, एवं स्वतन्त्र दृष्टि सम्पन्न साहित्यकारों में हो और जिन्हें सम-सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का ज्ञान तथा अपनी भाषा की साहित्यिक उपलब्धियों का परिचय हो।

प्रत्येक समिति निर्धारित नियमों के अनुसार प्राप्त प्रस्तावों का आकलन, निरीक्षण एवं मूल्यांकन करेगी और निश्चित कार्य-पद्धति के अनुसार 'सर्वोत्तम तथा सर्वोपरि' के रूप में केवल एक पुस्तक का समर्थन करेगी। समिति का यह निर्णय सर्वसम्मत, अथवा समिति के सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत पर आधारित होगा। प्रस्ताव के समर्थन में प्रत्येक समिति लेखक के साहित्य-सर्जनात्मक कार्यकलाप पर एक विस्तृत टिप्पणी तथा तत्कालीन समस्त सम-सामयिक सर्जनात्मक लेखन के परिप्रेक्ष्य में 'सर्वोत्तम' मानी गयी पुस्तक-विशेष का मूल्यांकन भी प्रस्तुत करेगी। समिति इस विषय का विवरण भी प्रस्तुत करेगी कि समस्त पर्यालोचित सामग्री की प्रकृति और स्तर क्या है और समिति के निष्कर्षों का आधार क्या है। प्रत्येक समिति का एक 'संयोजक' नियुक्त होगा और समिति अपने एक प्रतिनिधि का नाम भी प्रस्तावित करेगी, जो प्रवर-परिषद् के समक्ष, समिति द्वारा समर्थित

पुस्तक के सम्वन्ध में ऐसी सभी व्याख्याएं आदि उपस्थित करेगा जिनकी अपेक्षा परिषद् को हो।

8. प्रवर-परिषद्

लगभग ग्यारह-बारह व्यक्तियों की एक प्रवर-परिषद् होगी, जिसके सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें राष्ट्रव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त हो एवं जो अपनी न्यायबुद्धि, निष्पक्ष निर्णय तथा स्वतन्त्र रूप से, अथवा प्रस्तुत की गयी सामग्री और व्याख्याओं के आधार पर, कृति-विशेष के तुलनात्मक गुण-अवगुण परखने की क्षमता के लिए आदरणीय माने जायें। भारतीय ज्ञानपीठ का प्रतिनिधित्व अतिरिक्ततः एवं पदेन, तीन-सदस्यों द्वारा होगा। परिषद् को स्वतन्त्रता होगी कि आवश्यकतानुसार साहित्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी किसी विषय पर देश के अथवा विदेश के ऐसे व्यक्तियों का परामर्श ले सके जो अधिकारी मर्मज्ञ समझे जायें।

परिषद् विभिन्न परामर्श-समितियों से प्राप्त प्रस्तावों का निरीक्षण तथा मूल्यांकन करेगी और आवश्यक होने पर, उनके प्रतिनिधियों का साक्ष्य लेगी एव उपस्थित की गयी व्याख्याओं पर विचार करेगी।

9. भाषा वर्ग-समूह समितियां

परिषद् चाहे तो नीचे सुझाये भाषा-वर्गों की उपसमितियां भी गठित कर सकेगी जो परामर्श-समितियों द्वारा प्रस्तावित, अपने-अपने भाषा-वर्गों की साहित्यिक कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगी और एक विशेष साहित्यिक स्तर-मूल्य के राष्ट्रीय मानदण्डों के अनुरूप वास्तविक प्रतियोगी पात्रता की लगभग तीन या चार पुस्तकें छांट लेंगी।

1. मराठी—गुजराती	4. वाङ्ला—असमी—उड़िया
2. तमिल—मलयालम	5. कश्मीरी—पंजाबी—उर्दू
3. तेलुगु—कन्नड़	6. हिन्दी—संस्कृत

परिषद् आवश्यकतानुसार वर्गों की संख्या घटा-बढ़ा सकेगी और भाषाओं के वर्गीकरण में परिवर्तन कर सकेगी।

10. भाषा-वर्ग समूह समितियों का गठन, उनकी कार्य-प्रणाली

भाषा-वर्ग समूह उपसमितियों का प्रत्येक संयोजक सदस्य वर्ग की प्रत्येक दूसरी भाषा के सन्दर्भ में एक ऐसे व्यक्ति का नाम सदस्यता के लिए निर्वाचित करेगा जो संयोजक उस भाषा के साहित्य का प्रामाणिक समीक्षक हो ही, जिसका प्रतिनिधित्व संयोजक करता है, किन्तु वर्ग की दूसरी भाषा या भाषाओं के साहित्य का मर्मज्ञ समीक्षक भी हो। इस प्रकार 'संयोजकों' और 'निर्वाचितों' की संयुक्त बैठक भाषा-वर्ग समूह समिति में विचारार्थ प्रस्तुत पुस्तकों में से एक पुस्तक 'सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि' साहित्यिक कृति के रूप में चुनेगी। समिति की अध्यक्षता प्रवर-परिषद् का वह सदस्य करेगा जिसे परिषद् ने उस प्रयोजन के लिए मनोनीत किया हो।

यदि समिति का निर्णय सर्वसम्मत न हुआ तो परिषद का अध्यक्ष सदस्य बहुमत की जानकारी परिषद को देगा और अपना मन्तव्य या निर्णय भी प्रस्तुत करेगा।

11. निर्णय के लिए समान भाषा-माध्यम तथा अन्य साधन

निर्णय के लिए अधिकतम समान माध्यम प्रस्तुत करने की दृष्टि से भारतीय ज्ञानपीठ, परिषद द्वारा अन्तिम विचार-विमर्श के निमित्त छांटी हुई तीन या चार अथवा अधिक पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का या तो स्वयं प्रयत्न करेगी या लेखकों तथा प्रकाशकों की यथोचित सहायता करेगी। इस उद्देश्य के लिए परिषद को अधिकार होगा कि वह आवश्यकतानुसार विशेषज्ञों की उपसमिति या उपसमितियां गठित कर ले।

12. पुरस्कृत भाषा के लिए दो वर्ष का अन्तराल

जिस भाषा की कृति को एक वर्ष पुरस्कार मिलेगा उस भाषा की कृतियां अगले दो वर्ष तक विचारणीय नहीं होंगी।

13. अन्तिम निर्णय तथा प्रशस्ति

परिषद तदुपरान्त अपनी कार्य-पद्धति के अनुसार अन्तिम रूप से स्थिर

करेगी कि परामर्श-समितियों तथा परिषद की अपनी उपसमितियों द्वारा प्रस्तावित लेखकों में से किसे पुरस्कार प्रदान किया जाये। परिषद कृतिकार और उसके कृतित्व के सम्बन्ध में अपेक्षित प्रशस्ति भी प्रस्तुत करेगी।

14. जीवनोत्तर पुरस्कार

यदि किसी लेखक की कृति या कृतियां परामर्श-समिति के सामने विचारार्थ प्रस्तुत हो जायें और यदि उसके उपरान्त लेखक का देहावसान हो जाये तो उसका नाम जीवनोत्तर पुरस्कार के लिए विचारणीय रहेगा। जीवनोत्तर पुरस्कार की स्थिति में पुरस्कार राशि उस व्यक्ति को दी जायेगी जो लेखक का वैधानिक उत्तराधिकारी हो। विवादास्पद स्थिति होने पर प्रवर-परिषद स्थिति के अनुसार निर्णय लेगी।

15. राष्ट्रीय साहित्यिक मानदण्ड के अनुरूप सर्वश्रेष्ठ कृति के अभाव में पुरस्कार-वर्जन

परिषद के अनुसार किसी वर्ग-विशेष में, पुरस्कार के राष्ट्रीय मानदण्ड के अनुरूप कोई पुस्तक यदि न हुई तो पुरस्कार नहीं दिया जायेगा।

16. परामर्श-समितियों तथा प्रवर-परिषद् का पुनर्गठन

परामर्श-समितियो का पुनर्गठन प्रत्येक तीसरे वर्ष होगा, एव परिषद मनोनीत सदस्यो में से एक-तिहाई प्रतिवर्ष, मतपत्र-पद्धति से, बारी-बारी पद-निवृत्त होगे किन्तु विशेष परिस्थितियों मे ज्ञानपीठ द्वारा उन्हें पुन: नियुक्त किया जा सकेगा।

पुरस्कार एक लेखक को एक ही बार

जो लेखक एक बार पुरस्कृत हो जायेगा उसकी कृतियां इसी पुरस्कार के लिए पुन: प्रतियोगी न मानी जायेंगी।

(4 मई, 1963 को प्रवर परिषद की बैठक मे स्वीकृत प्रारूप)

शिक्षा, प्रकाशन, पत्रकारिता से जुड़े और अन्यान्य बुद्धिजीवियों को भेजा जाने वाला प्रपत्र

सर्वोत्तम और सर्वोपरि सर्जनात्मक साहित्यिक कृतियों का प्रस्ताव फॉर्म

भा० ज्ञा० क्रम संख्या

तिथि

प्रस्ताव/प्रेपण तिथि

पुरस्कार वितरण वर्ष

विशेष : (1) केवल उन्हीं पुस्तकों से सम्बन्धित प्रस्ताव पत्रों पर विचार होगा जिनके लेखक जीवित हैं तथा वैधानिक रूप से भारतीय नागरिक हैं।

(2) प्रस्तावित पुस्तक···से पूर्व का और···के बाद का प्रकाशन न हो।

(3) यह आवश्यक है कि प्रस्तावित पुस्तक 'सर्जनात्मक साहित्यिक कृति' हो।

(3) यदि किसी सूचना-विशेष के उत्तर के लिए प्रस्ताव पत्र में स्थान कम हो तो अलग कागज पर सूचना का क्रमांक डाल-कर सम्बन्धित विवरण देने की कृपा करें।

1. प्रस्तावक
2. पता
3. पुस्तक का नाम
4. पुस्तक की भाषा
5. लेखक
6. प्रकाशक
7. प्रकाशन वर्ष
8. पृष्ठ संख्या

कौन-सा संस्करण ?

9. मूल्य

10. अब तक प्रकाशित संस्करण

11. लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में एक परिचयात्मक टिप्पणी

जन्म

शिक्षा

जीवनवृत्ति

यदि उन्हें कोई पुरस्कार अथवा विशेष प्रशस्ति प्राप्त हुई हो तो उसकी सूचना सविवरण।

पूर्व प्रकाशित कृतियों के नाम और प्रत्येक प्रमुख कृति का साहित्यिक मूल्यांकन (कृपया अलग पृष्ठ पर लिखकर संलग्न कर दें।)

12. प्रस्तावित पुस्तक की साहित्यिक विधा

13. पुस्तक की विषय-वस्तु

14. यह पुस्तक प्रस्तावित करते समय आपने इस अवधि में प्रकाशित प्रमुख लेखकों की किन-किन उत्कृष्ट कृतियों को ध्यान में रखा है?

15. साहित्य-जगत् में पुस्तक का कैसा स्वागत हुआ, सविवरण?

16. आपकी दृष्टि में इस पुस्तक में क्या-क्या कमजोरियां हैं और इनके बावजूद आप इस पुस्तक को 'सर्वोपरि रचना' क्यों समझते हैं?

17. क्या यह पुस्तक किसी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में अनूदित हो चुकी है? कृपया अपनी सूचना के आधार पर विवरण दें।

18. क्या इस पुस्तक को इतनी महत्त्वपूर्ण और उच्च कोटि का समझा जाये कि इससे समूचे भारतीय साहित्य का स्तर उन्नत हुआ है? कृपया कारण लिखिए।

19. विशेष विवरण

विशेष : पुरस्कार के सन्दर्भ मे स्वीकृति विधान की धारा 5 के अन्तर्गत प्राप्त अधिकार के आधार पर प्रवर-परिषद ने तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन किए :

1. जहा पहले पुरस्कार के समय चौदह भारतीय भाषाएं पुरस्कार के लिए मान्य थी अब उनकी संख्या पन्द्रह है।
2. सत्रहवें पुरस्कार से पुरस्कार राशि एक लाख रुपये से बढ़ाकर डेढ़ लाख रुपया कर दी गयी थी, अब पच्चीसवें पुरस्कार से यह राशि दो लाख रुपया कर दी गयी है।
3. अठारहवें पुरस्कार से ऐसी कृति नही, ऐसे लेखक का चयन किया जाने लगा था जिसने एक से अधिक महत्वपूर्ण कृतियों का सृजन किया हो। यह क्रम 22वें पुरस्कार तक चला। फिर इस नियम में पुन: संशोधन करते हुए 23वें पुरस्कार से एक समय विशेष मे प्रकाशित साहित्य मे से किसी भी एक लेखक की एक से अधिक महत्वपूर्ण कृतियों को ध्यान में रखते हुए रचना के साथ-साथ रचनाकार के साहित्यिक योगदान पर विचार किया जाने लगा।

भारतीय संविधान की आठवीं सूची में परिगणित पन्द्रह भारतीय भाषाएं

असमिया
उड़िया
उर्दू
कन्नड़
कश्मीरी
गुजराती
तमिल
तेलुगु
पंजाबी
बाङ्ला
मराठी
मलयालम
संस्कृत
सिंधी
हिन्दी

☐ पहले पुरस्कार के समय भारतीय संविधान में भारतीय भाषाओं के रूप में चौदह भाषाएं ही मान्य थीं। बाद में संविधान में सिंधी को सम्मिलित किये जाने के निर्णय के साथ ही पुरस्कार के लिए मान्य भाषाओं में इसे भी सम्मिलित कर लिया गया।

☐ पुरस्कृत रचनाकार को दो लाख रुपया, वाग्देवी की एक कांस्य प्रतिमा (देखें-पृष्ठ-पंद्रह) और पंच धातु से बना प्रशस्ति फलक समर्पित किया जाता है।

गोविन्द शंकर कुरुप

ख्यात नाम : कुरुप
जन्म : 5 जून, 1901
स्मृति शेष : 1978
पुरस्कृत कृति : ओडक्कुपल
भाषा : मलयालम
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1920 से 1958
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 19 नवंबर, 1966
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया
पुरस्कार राशि से मलयालम कविता के लिए
'ओडक्कुपल' पुरस्कार का श्रीगणेश

पहला पुरस्कार : 1965

गोविन्द शंकर कुरुप

मध्य केरल के जिस अंचल को आचार्य शंकर ने जन्म लेकर धन्य किया वहीं नायत्तोट नाम का एक गांव है। छोटा-सा गांव है पर सदानीरा पेरियार किनारा छूती बहती है, हरे-हरे खुले मैदान और धान के खेत ओर-छोर फैले हैं, और नारियलों के झुरमुट मुक्त वायु में मुक्त भाव से झूमा करते हैं। सामने क्षितिज के रंगों को अपनी रेखाएं देती सुहानी पहाड़ियों की पांत है और गांव की अंगनाई में सवेरे-सांझ शंख-नाद से गूंजता एक पुराना देवालय जहां पीठिका पर विष्णु और महेश दोनों प्रतिमाएं प्रतिष्ठित है।

नायत्तोट गाव के इसी वातावरण में एक सरल और सहज-जीवी छोटे-से परिवार मे 5 जून, 1901 को कवि जी० शंकर कुरुप का जन्म हुआ। पिता का नाम शकर वारियर था, माता का लक्ष्मीकुट्टी अम्मा। बचपन मे ही पिता की आशीष-छाया सिर से उठ गयी थी। सारी देख-रेख और शिक्षा आदि का दायित्व-भार तब मातुल गोविन्द कुरुप पर आया। कवि जी, शंकर कुरुप के नाम का 'जी०' मातुल के ही नाम का प्रथमाक्षर है और परिवार मे वंश-परम्परा मातृकुल से चलने की प्रथा होने के कारण कुल-नाम भी 'कुरुप' हुआ। कवि जी० सब तीन भाई और एक बहन थे।

मातुल गोविन्द कुरुप प्रख्यात ज्योतिषी थे और पुरानी परिपाटी के संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित। धन-सम्पदा के नाम उनके पास अपनी विद्वत्ता थी और एक उदार सौम्यता। बालक शंकर कुरुप के लिए उन्होंने प्रारम्भ से ही चाहा कि वह जल्दी-से-जल्दी किसी योग्य हो जाये। इसी विचार से उन्होंने तीन वर्ष की आयु से ही उसे प्रारम्भिक पद्धति के अनुसार स्वयं संस्कृत का ज्ञान कराना शुरू कर दिया। कवि जी० आठ वर्ष के हुए तब 'अमरकोश' और संस्कृत व्याकरण 'सिद्धरूपम्' ही नहीं, छन्दशास्त्र 'श्री रामोदन्तम्' और 'रघुवश' के कितने ही श्लोक तक कण्ठस्थ कर चुके थे।

संयोग से उन्हीं दिनों नायत्तोट में एक प्राथमिक पाठशाला की स्थापना हुई। बालक कुरुप को वहां दूसरे वर्ग में भरती करा दिया गया। मातुल का शिक्षण घर पर चलता, तो भी अब हर क्षण के उनके कठोर अनुशासन और सम्कृत छन्द और व्याकरण को ही कण्ठस्थ करने की विवशता में एक ढील आ गयी थी। उसके भीतर जो प्रकृति की सौ-सौ दृश्य-छवियों को देखकर आप-से-आप एक अरूप और विचित्र-सा आलोडन होता उसका अब उसे ज्ञान होने लगा। दो घटनाएं भी इसी काल मे घटी जो सामान्य थी पर कवि जी० शकर कुरुप की काव्य-चेतना के प्रथम अंकुर फूटने मे उनका परोक्ष रूप से योगदान हुआ। एक थी उस युग के वरिष्ठ मलयालम कवि कुंजी-कुट्टन तम्पुरान का नायत्तोट आना, और दूसरी थी नौका से तोट्टुवाय देवालय जाते हुए उगते सूर्य के प्रथम स्पर्श से लाजारुण लहरियों के अस्त-व्यस्त नर्तन का दर्शन।

बालक शंकर कुरुप इस दृश्य को देखकर विमोहित हुआ छटपटाता-सा रह गया था। कुछ दिन बाद कक्षा मे बैठे-बैठे अकस्मात् उसे मूर्छा आयी और एक सहपाठी कंधे पर डालकर घर लाया। मित्र के प्रति कृतज्ञता मे कुछ पक्तियां उसने लिखीं : कवि जी० शंकर कुरुप की यही पहली रचना थी ! माता गर्व किया करती थी कि उसका बेटा आठवें महीने मे पाव चला; अब मातुल गद्गद हुए सब को बताते कि उनका भागिनेय नवें वर्ष में काव्य-रचना करने लगा ! किन्तु सामने बड़ी समस्या आगे पढ़ने की थी। गांव की उस प्राथमिक पाठशाला में प्रबन्ध तीसरे वर्ग तक ही था, और कहीं और भेजने की सुविधा करना सरल न था। एक दिन पूजा करने माता देवालय पहुंची तो देखा कि प्रतिमा के आगे आंखें मूदे बालक शकर बैठा है और आंसू ढर रहे है। माता ने आश्वासन दिया और फिर किसी प्रकार व्यवस्था करके उसे सात मील दूर स्थित पेरुम्पावूर के मलयालम मिडिल स्कूल भेजा गया।

पेरुम्पावूर में हॉस्टेल के जीवन में एक मुक्त वातावरण तो मिला ही, कवि शंकर की अस्फुट प्रतिभा के चेत उठने में विशेष प्रेरक-सहायक वहां का घना फैला वन हुआ जहां लता-कुंजों से घिरा भगवती वनदेवी का एक अर्द्धभग्न मन्दिर था और नाना पक्षियों का कलरव-कूजन अजस्र चलता।

प्रकृति की उस उन्मुक्त शोभा-राशि से विद्ध हुए शंकर घंटों-घंटों वहां रहते और प्राय: ही संस्कृत छन्दों में फुटकर श्लोकों की रचना करते। सातवीं कक्षा के बाद वह मूवाट्टुपुषा मलयालम हाई स्कूल आये। यहां दो वर्ष रहे, पर ये दो वर्ष उनके निर्माण-विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और एक प्रकार से दिशा-निर्णायक हुए। विशेष हाथ इसमें उनके दो अध्यापकों का था : श्री आर० सी० शर्मा और श्री एम० एन० नायर।

श्री शर्मा संस्कृत के अध्यापक थे। अपने इस विद्यार्थी की सहज काव्य-प्रतिभा को उन्होंने पहचाना और संस्कृत का अधिकाधिक ज्ञान कराते हुए उसे 'रघुवंश' और छन्दशास्त्र की गहराइयों तक ले गये। साथ ही बांग्ला साहित्य की ओर भी उन्होंने उसे प्रवृत्त किया और 'गीताजलि' का मलयालम अनुवाद करने में उसके प्रेरक और सहायक हुए। श्री नायर ने, दूसरी ओर, इस तरुण कवि की चेतना को युगीन भाव-बोधों से आलोकित किया। समाजवाद यथार्थ में क्या है और किस रूप में व्यावहारिक जीवन का इसे अंग बनाया जाये, इसकी दृष्टि कवि कुरुप को सर्वप्रथम श्री नायर ने ही दी। कुरुप अब कैशोर्य पार कर रहे थे। आगे और कैसे पढ़ें यह समस्या कठिनतर रूप में सामने थी। श्री शर्मा और श्री नायर के प्रोत्साहन पर उन्होंने कोचीन राज्य की 'पण्डित' परीक्षा पास करके अध्यापन की योग्यता प्राप्त की।

दो वर्ष शंकर कुरुप यहां-वहां अध्यापन करते रहे। उनके कविता-संग्रह 'साहित्य कौतुकम्' के प्रथम भाग की कुछ कविताएं इसी काल की हैं। पर उनके जीवन का यह काल कुछ इस प्रकार का ही है जैसा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचने तक किसी छोटी-सी जलधारा का इधर-उधर भटकने और राह पाने का होता है। अपना अभीष्ट उन्हें प्राप्त हुआ जब तिरुविल्वामला हाई स्कूल में वह अध्यापक हुए। नायत्तोट से और माता और मातुल के वात्सल्यपूर्ण परिवेश से तिरुविल्वामला 50 मील दूर था। उस युग में इतनी दूरी बहुत होती थी। घर के पास एक और स्कूल में अच्छे वेतन का एक स्थान मिलता भी था। किन्तु शंकर कुरुप तिरुविल्वा-मला ही गये। वहां भरपूर प्राकृतिक वैभव था और साथ ही अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य से परिचित होने की सुविधाएं थीं।

शंकर अब इक्कीसवें वर्ष में थे। अपनी दृष्टि और भावनाओं के आगे विकास के लिए अपेक्षित प्रकाश उन्हें अब प्रचुर मात्रा में यहां मिला। एक स्थल पर उन्होंने माना है कि "टैगोर और उमर खैयाम के अतिरिक्त अनेक-अनेक अंग्रेजी कवियों और समालोचकों के पास सविनय पहुंचने का मार्ग इस तरह मेरे सामने न खुलता तो 'साहित्य कौतुकम्' की सीमा से कदाचित् मैं आगे न बढ़ पाता। यह नया मार्ग मुझे संस्कृति की खान की ओर ले गया। मेरे कल्पना-क्षितिज को विस्तृत तथा आदर्श-बोध को विकसित करने में टैगोर का जितना हाथ था उतना शायद ही किसी और का रहा हो। उमर खैयाम और हाफिज आदि फारसी कवियों से परिचय होने पर मुझे लगा कि उनकी कविता में कल्पना के परिमार्जन पर नहीं, प्रतिपादन की रीति पर विशेष ध्यान दिया गया है। अंग्रेजी साहित्य मुझे गति के आलोक की ओर ले गया।"

यह काल प्रथम महायुद्ध के तत्काल बाद का था। मलयालम साहित्य *जगत् अपनी तीन विशिष्ट काव्य-प्रतिभाओं के अवदान से प्रकाशित* और प्रभावित था : कुमारन् आशान्, वल्लतोल नारायण मेनन और उल्लूर परमेश्वर अय्यर। कुमारन् आशान् ने नये काव्य-क्षितिजों का उद्घाटन किया। वल्लतोल भाषा और शब्द-शक्ति के कुशल प्रयोक्ता थे, उन्होंने नयी संवेदनाएं जगाते हुए काव्य में गांधीवादी विचारधारा संचारित की, और उल्लूर में क्लैसिक भावना सदा प्रधान रही, मलयालम काव्य को उनसे गीतों का वैभव प्राप्त हुआ। जी० शंकर कुरुप को इन तीनों की भाव-सरिताओं मे अवगाहन करने का अवसर मिला। पर तीनों में अधिक प्रभाव उन दिनों वल्लतोल का ही उन पर आया।

अपनी जो पहली कविता इन्होंने उनके पास भेजी उसे 'आत्मपोषिणी' मासिक में प्रकाशित किया गया। कवि कुरुप ने इस सन्दर्भ में लिखा है, "इस रचना को पढ़कर महाकवि ने बड़े प्रेम के साथ एक पत्र लिखा और मुझसे शब्दालंकार की तड़क-भड़क से दूर रहने को कहा। मेरी दूसरी रचना को पढ़कर उन्होंने रचना तथा पद्चयन सम्बन्धी कई विशेष बातें समझायी। मेरी तीसरी रचना 'धन-मेघ की पाटी पर इन्द्रधनु की रेखा खींचने वाली प्रकृतिबाला' को पढ़कर महाकवि ने अभिनन्दन का पत्र

भेजा। उससे मेरा साहस बढ़ा।"

चार वर्ष, 1921 से 1925 तक, श्री शंकर कुरुप तिरुविल्वामला रहे। प्रकृति के प्रति प्रारम्भ में जो एक मुग्धकर सहज आकर्पण भाव था वह इन चार वर्षों मे अनन्य उपासक की भावना का रूप ले चला था। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि "प्रकृति के प्रति मेरा विशेष आकर्पण, उसके साथ मेरा निकट सम्बन्ध, उसके साथ एकाकार हो जाने की अनुभूति, और प्रकृति से परे रहने वाली चेतना-शक्ति का उसके द्वारा प्राप्त होता आभास, इन सब की पूजी के बल पर ही साहित्य-लोक मे प्रवेश करने तथा उसके एक कोने में घर करने मे मैं समर्थ हुआ हूं।"

तिरुविल्वामला से श्री कुरुप 1925 में चालाकुटि हाई स्कूल आ गये। इसी वर्ष 'साहित्य कौतुकम्' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। कवि अपने पच्चीसवें वर्ष में था और उसकी काव्य-रचना मलयालम भाषांचल में व्यापक मान और ख्याति पा चली थी। 1931 मे 'नाले' (आगामी कल) शीर्षक कविता के प्रकाशन ने वहां साहित्य जगत् में एक हलचल-सी मचा दी थी। बहुतों ने उसे राजद्रोहात्मक तक कहा, और उसे लेकर महाराजा कॉलेज एर्णाकुलम् में उनके प्राध्यापक पद पर नियुक्ति मे भी एक बार को बाधा आयी। 1937 से 1956 मे सेवानिवृत्त होने तक इस कॉलेज में वह मलयालम के प्राध्यापक रहे। अपने मे यह एक असामान्य बात थी कि कोई व्यक्ति स्नातक भी न हो और कॉलेज में प्राध्यापक पद पर कार्य करे। वास्तव मे यह उनकी सर्व-विदित सक्षमता के प्रति सबके विश्वास भाव का द्योतक था।

प्राध्यापकी से अवकाश प्राप्त कर लेने के उपरान्त वह आकाशवाणी के त्रिवेन्द्रम् केन्द्र में 'प्रोड्यूसर' रहे; फिर आकाशवाणी के सलाहकार निर्वाचित हुए। केरल साहित्य परिपद के संचालन मे उनका सक्रिय योगदान रहा है; वे कई वर्षों तक इसके अध्यक्ष रहे। कवि कुरुप ने अपने अध्यवसाय से अंग्रेजी सीखी और बांग्ला तथा हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया। भाषा पर उनका अप्रतिम अधिकार साहित्य-रचना के क्षेत्र में ही नहीं उजागर हुआ, वे प्रभावशाली वक्ता भी रहे।

क्या स्थान है आधुनिक मलयालम साहित्य मे कवि श्री जी० शंकर

कुरुप का, कितना आदर था उनका अपने साहित्यिक समकालीनो मे, कैसी हार्दिक सम्मान भावना थी नयी पीढ़ी के मन में उनके प्रति, और कितने अधिक वह लोकप्रिय थे इस सब का प्रकट आभास साहित्य जगत् को 1960 के जून मास मे मिला था जब उनका षष्ठिपूर्ति उत्सव मनाया गया और अपनी-अपनी भावांजलि सब ने अर्पित की। 1962 मे साहित्य अकादमी ने भी उनकी काव्यकृति *'विश्वदर्शनम्'* पर उन्हें पुरस्कार-सम्मान प्रदान किया था।

महाकवि जी० शंकर कुरुप की ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व ही सब सैंतीस कृतियां प्रकाशित हो चुकी थीं: तीस मौलिक और सात अनुवाद। मौलिक कृतियों में बीस कविता-संग्रह है, चार निबन्ध सग्रह, तीन नाटक, तीन बाल-साहित्य-विषयक।

अनुवादों में तीन बांग्ला से है, दो सस्कृत से, एक अंग्रेजी के माध्यम से फारसी कृति का, और एक और इसी माध्यम से दो फ्रेंच कृतियों का। बांग्ला कृतियां है: गीतांजलि, एकोत्तरशती, टागोर; सस्कृत की है: मध्यम व्यायोग, मेघदूत; फारसी की रूबाइयात-ए-उमर खैयाम, और फ्रेंच कृतिया अंग्रेजी रूप में 'द ओल्ड मैन हू इज नॉट वॉण्ट टु डाइ' तथा 'द चाइल्ड ह्विच डज नॉट वॉण्ट टु बी बॉर्न।'

कवि कुरुप की प्रतिभा निरन्तर विकासशील रही। उनकी सर्जनात्मकता भी अधिकाधिक परिपक्वता और दार्शनिकता की ओर उन्मुख रही। इसीलिए जहां 'ओडक्कुषल' में संग्रहीत कविताएं उनकी अत्यन्त महत्वपूर्ण कविताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, उनकी परवर्ती कविताएं, जो 1950 से 1965 के बीच लिखी गयी है, उनके अधिक प्रौढ़ और गम्भीर चिन्तन का परिचय देती हैं।

कवि कुरुप ने पुरस्कार में मिली राशि से मलयालम में 'ओडक्कुषल' नाम से एक पुरस्कार की स्थापना की थी। यह पुरस्कार मलयालम की किसी काव्य कृति पर प्रति वर्ष दिया जाता है।

ऐसे चयन हुआ प्रथम पुरस्कार योग्य कृति का

प्रथम पुरस्कार के लिए 1925 से 1958 के बीच प्रकाशित कृतिया विचारणीय थी। प्रस्तावित कृतियों मे से प्रत्येक भाषा की सर्वश्रेष्ठ एक-एक कृति चुनने के लिए पहले चौदह भाषा परामर्श-समितियों की बैठकें हुई। जो कृतिया यहा चुनी गयी उन पर भाषा-वर्ग समितियों द्वारा विचार किया गया और सब मे से सात भाषाओ (हिन्दी, बांग्ला, मराठी, उर्दू, मलयालम, तेलुगु, कन्नड) की सात कृतियां आगे आयी।

इन सात का अधिकारी विद्वानो द्वारा परस्पर तुलनात्मक मूल्याकन कराया गया। अन्त मे सब समितियो की सब रिपोर्टें, समीक्षको, मूल्याकन-कर्ताओ की सम्मतिया, तथा हिन्दी रूपान्तर की प्रतिया विचार-निर्णयार्थ प्रवर परिषद् के पास प्रस्तुत कर दी गयी। विचारार्थ प्रवर परिषद् की यह बैठक डॉ० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता मे 19 नवम्बर, 1965 को नई दिल्ली मे हुई। अन्तिम निर्णय के दिन 29 दिसम्बर, 1965 को प्रवर परिषद् की वहीं फिर बैठक हुई। डॉ० सम्पूर्णानन्द अध्यक्ष थे, भाग लेने वाले अन्य सदस्य थे : श्री काका साहब कालेलकर, डॉ० आर० आर० दिवाकर, डॉ० नीहार रंजन रे, डॉ० वी० गोपाल रेड्डी, डॉ० कर्णसिंह, श्रीमती रमा जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, श्री पी० बी० कमण्डगडकर, डॉ० पी० राघवन, और डॉ० हरेकृष्ण मेहताव।

परिषद् की इस बैठक के सामने केवल चार कृतियां रह गयी थी। बांग्ला कवि काजी नजरूल इस्लाम की 'अग्निवीणा', तेलुगु उपन्यासकार विश्वनाथ सत्यनारायण की 'वेईपादगुलु, कन्नड कवि डी० वी० गुण्डप्पा की 'मन्कुटीमृक्गा' और मलयाली कवि जी० शंकर कुरुप की 'ओडक्कुपल'। चारों मे से परिषद् के सदस्यो ने सर्वसम्मति से मलयाली कवि जी० शकर कुरुप की कृति 'ओडक्कुपल' को ही इस प्रथम ज्ञानपीठ पुरस्कार के योग्य ठहराया।

ताराशंकर वंद्योपाध्याय

ख्यात नाम : तारा वाबू
जन्म : 23 जुलाई, 1898
स्मृति शेष : 1971
पुरस्कृत कृति : गणदेवता
भाषा : बांग्ला
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : 1925 से 1959
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 15 दिसंबर, 1967
मावलंकर हाल, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

दूसरा पुरस्कार : 1966

ताराशंकर वंद्योपाध्याय

ताराशकर वद्योपाध्याय का जन्म पश्चिमी बंगाल के वीरभूम जिले के अन्तर्गत लाभपुर नाम के छोटे-से गाव मे एक साधारण जमीदार घराने मे 23 जुलाई, 1898 को हुआ। 1898 अर्थात् 19वी और 20वी शताब्दियों का सन्धिकाल, विक्टोरिया के शासन और उससे प्रतीकित जीवन-युग के अन्तिम वर्ष : देश मे निरवाध शान्ति और समस्याहीनता, या कहा जाये समस्या-बोध के अभाव की स्थिति थी। बाह्य जगत मे होते परिवर्तनों का कही-कही आभास था, पर सीमित और स्वल्प रूप में, छोटे-छोटे क्रान्तिकारी दलों का छिटपुट सघटन हो रहा था, किन्तु व्यापक रूप से राजनैतिक चेतना अभी फूटी न थी। अंग्रेजी शिक्षा अवश्य फैल चली थी, किन्तु, सब मिलाकर, देश का जीवन था—जैसे बंधे हुए जल का गोताखोर। बंगाल मे स्थायी बन्दोवस्त के परिणामस्वरूप जमीदारों का प्रभुत्व, आर्थिक आय कम होते भी सामन्ती दम्भ, और भारत की सनातन संस्कृति के नाम पर आडम्बर-प्रपच, नाना संकीर्णताएं, भेद और सामाजिक दमन।

पश्चिम बगाल के जिस जिले में ताराशंकर जनमे, वह आसपास का सारा प्रदेश इतिहास मे राढदेश के नाम से अभिहित है। अन्यथा भी इसकी ख्याति है। भगवान् महावीर की यह विहार-भूमि रहा है। भक्ति-साहित्य मे और तन्त्र साधना-क्षेत्र मे राढ़देश सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते है। लाभपुर से सात-आठ मील पूर्व चण्डीदास का जन्म स्थान है और बीस मील नैऋत्य में जयदेव का; उधर ही शान्तिनिकेतन भी है। प्रदेश भर में जहां-तहां शाक्त साधको के साधना पीठ है और वैष्णव भक्त पुरुषों के आराधना मन्दिर। ताराशंकर का वंद्योपाध्याय घराना इस प्रदेश मे पीढ़ियों से है। पिता श्री हरिदास वंद्योपाध्याय जमीदार बड़े न थे, आर्थिक स्थिति भी तदनुरूप ही थी, पर बड़े व्यक्तित्व-सम्पन्न थे और सामन्ती मान-गर्व भी उनका कम न था। ताराशंकर आठ वर्ष के थे जब पितृविहीन हुए, किन्तु

भारत का सनातन बोध इन्हें अपने पिता से ही प्राप्त हुआ जो अल्पवय में ही अंखुवाने लगा था।

पिता का स्वभाव ताराशंकर में प्रतिमूर्त हुआ, पर निर्णायक प्रभाव उन पर माता श्रीमती प्रभावती देवी का रहा। श्रीमती प्रभावती देवी पटना के एक सुसंस्कृत एवं प्रबुद्ध प्रवासी बंगाली परिवार की कन्या थीं और प्रकृति से ही बड़े उदार विचारों की। सनातन भारतीय आदर्शों के प्रति निष्ठा के साथ-साथ नूतन के प्रति जागरूकता एवं सभी दृष्टिकोणों के प्रति एक सहिष्णुता का भाव ताराशंकर को मूल में माता की ही देन थी। माता से ही घुट्टी में उन्हें देश-प्रेम और समाज सेवा की भावनाएं मिली। जो लोरियां और बालकथाएं मां सुनातीं उनमे अनिवार्य रूप से कही-न-कही विद्यासागर, बंकिम या विवेकानन्द का नाम पिरोया हुआ रहता। एक और नाम भी कानों में वह डाला करतीं : खुदीराम बोस। शिशु ताराशंकर की मनोभूमि को उत्तराधिकार में प्राप्त आदर्शों के बीज, माता की इस ममता-भरी आलोक दिशा में संवर्धित हुए। माता जब तक जीवित रही अपनी इस सफल कृति की उपलब्धि पर एक कुशल सृजेता-शिल्पी का परितोष-भरा आनन्द अनुभव करती रहीं।

माता के अतिरिक्त, ताराशंकर के निर्माण और विकास को चेतना-दिशा देने में उनकी बुआ का भी कम योगदान नही रहा। सामन्ती युग के संस्कारों की दृष्टि से जैसे पिता, वैसी बुआ। वंशगत हठीला स्वभाव और आभिजात्य का स्वाभिमान तारा बाबू मे पोरों तक था तो केवल संस्कारवश नही, बहुत अंशों में उनके व्यक्तित्व की रेखाओं में ये रंग बुआ के सहज दुलार और दीक्षाओ द्वारा भरे हुए थे। तारा बाबू के मन में इनके प्रति कितनी गहरी और असीम श्रद्धा रही यह इसी से प्रकट है कि 'धात्रीदेवता' उपन्यास की धात्रीदेवता वास्तव में यह बुआ शैलदेवी ही थी।

तारा बाबू की प्रारम्भिक शिक्षा लाभपुर के अंग्रेजी विद्यालय में हुई। 1916 मे मैट्रिक्युलेशन करके, विशेषकर माता की प्रेरणा पर, कलकत्ते आ गये और सेन्ट जेवियर्स कॉलेज में आई० ए० मे प्रवेश लिया। तब प्रथम महायुद्ध का काल था। देश में अबोधता थी और धन-जन का शासनसत्ता द्वारा युद्ध मे भरपूर होम किया जा रहा था। राजनैतिक चेतना कुछ अंशों

मे फूट चली थी। यह अवश्य था कि कही जरा कुछ होता कि पुलिस की पैनी आख पहुच जाती और राजतन्त्र तत्काल सक्रिय हो उठता। नवयुवक ताराशंकर भी इस बीच कुछ क्रान्तिकारियो के संस्पर्श में आ चले थे। कॉलेज मे किसी राजनैतिक विषय पर उन्होने अपना स्वतन्त्र मतामत और खरी आलोचना व्यक्त की। परिणामस्वरूप वह वहा से हटाकर लाभपुर में नजरबन्द कर दिये गये। महायुद्ध की समाप्ति पर जब बन्धन शिथिल हुए तो पीडित मन और देह लिए वे फिर कलकत्ते आये और साउथ सबर्बन कॉलेज (वर्तमान सर आशुतोष मुखर्जी कॉलेज) मे प्रवेश लिया। कुछ मास शिक्षा चली किन्तु अस्वास्थ्यवश वह प्रयत्न ही छोड़ देना पड़ा।

ये घटनाए मा की योजना पर भारी आघात बनी। उसके संजोये हुए सारे सपने हठात् टूट गये। ताराशकर ने मा की इन दिनों की मनोदशा और अपनी उस समय की भावनाओ का चित्रण बाद में लिखे कथा-उपन्यासों के पात्रो के माध्यम से किया है। इसी बीच मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की और उसके तत्काल बाद उनका विवाह भी हो चुका था। तारा बाबू की पत्नी श्रीमती उमादेवी अत्यन्त सरल हृदया नारी थी। वे लाभपुर के ही एक धनी व्यवसायी पिता की पुत्री थी। उस समय उनके पिता एक कोलियरी के मैनेजर थे। स्वभावत: उनकी इच्छा थी कि ताराशंकर इस व्यवसाय को पकडें। सबके आग्रह पर 1919 मे इन्होने इस क्षेत्र मे बैठने का प्रयत्न भी किया। किन्तु अपने को उधर लगाने के अनेक प्रयत्न करने पर भी इस व्यवसाय का कलाज्ञान उनकी पहुंच-पकड़ के बाहर ही रहा। और वे अब सहज और अनिवार्य रूप से अपना सारा समय जमीदारी की देखरेख और गाव की समाज के सेवा-कार्यों मे लगाने लगे। सेवा-कार्यों के निमित्त एक छोटी-सी सस्था भी उन्होने संघटित की थी। इस प्रकार, गांव के और जिले के विभिन्न वर्गों के लोगो से सम्पर्क बढा। उन्होने न केवल सबके सुख-दुख को ही चीन्हा, बल्कि हरेक की समस्याओं और मूल ग्रन्थियों को भी पहचानने का अवसर पाया।

1921 मे, जब असहयोग आन्दोलन छिड़ा तो उसकी देशव्यापी लहर मे ताराशकर भी आ गये। दो वर्ष बाद 1922-24 मे समूचा वीरभूम जिला कॉलरा से भयकर रूप मे आक्रान्त हुआ। स्थिति यहां तक हो गयी

कि अपनों के पास जाते हुए लोग घबराते थे। ताराशंकर ने उन दिनों एकान्त लगन और उत्साह के साथ जन-जन की सेवा-परिचर्या की। समाज सेवा के इस काल में ही जब कभी अवकाश के दिन पा जाते तो वे छोटी-छोटी कविताएं लिखते। इस प्रकार ताराशंकर वन्द्योपाध्याय की साहित्य रचना यहां से प्रारम्भ होती है और सर्वप्रथम काव्य विधा मे। ये साधना-कालीन कविताएं सम्भवत: 1926 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं। सब साठ पृष्ठ सामग्री, तीन अध्यायों में सजायी हुई : इसी से शीर्षक था 'त्रिपत्र', प्रकाशक थे श्री चन्द्रनारायण मुखोपाध्याय, लालबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता। पुस्तक अब दुष्प्राप्य है।

कुछ दिनों बाद, सम्भवतया अपने सम्बन्धियो के ही आग्रह पर, ताराशंकर ने दोबारा कोयला व्यवसाय मे प्रवेश करने का प्रयत्न किया और बड़े व्यवसाय संस्थान में किसी पद पर नियुक्त होकर कानपुर गये। छह मास वे वहां रहे, पर जो काम पहले रास न आया था वह फिर भी न आया। और तारा बाबू गांव लौट आये। उस युग में यहां भले घरों तक के युवक अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विकास का एक ही माध्यम जानते और मानते थे। और वह था 'अभिनय'। ताराशंकर ने किशोर वय से ही इस क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था। कानपुर से लौटने के बाद अभिनय के प्रयोजन से नाटक-रचना भी आरम्भ की। 'मराठा तर्पण' पहली रचना थी। लाभपुर के मंच पर इस नाटक का अभिनय सफल माना गया, अभिनय की प्रशंसा कलकत्ते की एक पेशेवर नाट्य मण्डली ने भी की। किन्तु, जब उसी मण्डली ने उसे अभिनयार्थ स्वीकार करने से इनकार कर दिया, तो ताराशंकर ने नाटक-रचना का ही परित्याग कर दिया।

इसके बाद से ही तारा बाबू के उपन्यास और कहानी लेखन का सूत्रपात होता है। उनका प्रथम उपन्यास था 'दीनारदान' जो साप्ताहिक 'शिशिर' में धारावाहिक प्रकाशित हुआ। 'दीनारदान' उपन्यास पढ़ा अवश्य गया, पर उन्हें अभीप्ट प्रशंसा और प्रोत्साहन अपनी एक कहानी के प्रकाशन से मिला। 'रसकली' शीर्षक यह कहानी 1928 मे मासिक 'कल्लोल' द्वारा सादर गृहीत हुई, और इस अनुरोध सहित कि तारा बाबू अपनी रचनाएं बराबर दें। शैलजानन्द मुखोपाध्याय और प्रेमेन्द्र मित्र इस मासिक

के माध्यम से बांग्ला साहित्य को एक नयी भंगिमा दे रहे थे। वह नूतनत्व का प्रयत्न तारा बाबू को मोहे बिना कैसे रहता! उन्होंने सहयोग दिया, पर थोड़े ही दिनों में अनुभव किया कि जैसे वे भंगिमाएं उनकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल न हों। 1927 से 1929 तक के तीन वर्ष में तारा बाबू गांव के विभिन्न सेवा-कार्यों में भी संलग्न रहे। मलेरिया निवारण समिति के वह मन-प्राण थे, दो बार यूनियन बोर्ड के अध्यक्ष भी हुए। किन्तु ये अर्ध-सरकारी संस्थाएं थीं। इनमें खपना सम्भव न हुआ। उसी समय असहयोग आन्दोलन ने जोर पकड़ा और तारा बाबू ने, स्वयं अपने शब्दों में "जीवन की सारी कामना को एकत्र करके देश के स्वाधीनता संग्राम में उसकी आहुति दे दी।" वे 1930 में स्थानीय अंचल का नेतृत्व करते गिरफ्तार हुए और चार मास के लिए कारारुद्ध कर दिये गये।

इस चार मास के काराकाल ने तारा बाबू की जीवनधारा को बिलकुल ही मोड़ दिया। उनके सामने दोनों मार्ग थे: राजनैतिक एवं सामाजिक सेवा-सम्मान का और साहित्य रचना का। जन्मना वे स्वयं गांव और गांव के जीवन-परिवेश का अंग थे। सेवाकार्य करते हुए उन्होंने समूचे अंचल की अवस्था और समस्याओं का भीतर तक परिचय पाया। न जाने किन-किन विचार कल्पनाओं को उनके चेतन और अवचेतन ने समोया, पर जेल में राजनैतिक दलबन्दी और आपसी संघर्षों का जो रूप उन्होंने देखा उसने उन्हें इतनी वितृष्णा दी कि 1931 में कारा-मुक्त होने पर स्वागत समारोह में ही, उन्होंने स्पष्ट कह दिया: "आन्दोलनों के पथ से विदा। मैं अब मातृभूमि और स्वाधीनता युद्ध की सेवा, साहित्य के पथ से करूंगा।" और, राजनीति और समाज-सेवा के क्षेत्रों से अपने को समेटकर तारा बाबू भगवती वाग्देवी के प्रांगण में उपस्थित हो गये।

जेल जाने से पूर्व उन्होंने एक और उपन्यास लिखा था जो सावित्री प्रसन्न चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित मासिक 'उपासना' में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। मुक्त होकर आने के बाद तारा बाबू ने इसे 'चैताली घूर्णि' शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। पुस्तक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को समर्पित की गयी। यह उनका पहला प्रकाशित उपन्यास है। इसके अनन्तर दूसरा उपन्यास 'पाषाणपुरी' निकला जो कारावास में लिखा गया

या। 'चैताली घूर्णि' के माध्यम से ग्राम-जीवन और ग्राम-इकाई के विघटन का चित्रण किया गया है, 'पाषाणपुरी' में कारा जीवन और मानव-चरित्र के विद्रूपण का अंकन है। 1932 या उसके आसपास ही परिवार मे एक दुखद घटना हुई। तारा बाबू की एक चार वर्ष की कन्या थी जिसका अकस्मात् निधन हो गया। मन को गहरा आघात लगा। तारा बाबू ने पुत्री की चिता के उत्ताप को छाती में समोये एक बड़ी मर्मस्पर्शी कहानी 'श्मशानघाट' लिखी। रजनीकान्तदास की पत्रिका 'बंगश्री' के प्रवेशाक में यह आयी। कहानी इतनी अपूर्व मानी गयी कि बहुत दिनों तक चर्चा का विषय बनी रही।

बांग्ला साहित्य समीक्षकों का मत है कि यही से तारा बाबू की साहित्य साधना का द्वितीय अध्याय आरम्भ होता है। एक प्रकार से 'बंगश्री' के दो वर्ष का इतिहास और तारा बाबू की दिनोदिन बढ़ती ख्याति एवं लोकप्रियता परस्पर अंगांगिभाव से सम्वद्ध हैं। 1934 मे 'बंगश्री' द्वारा ही उनकी रचना 'जमीदारेर मेये' के कुछ अंश प्रकाश में आये। बाद को प्रसिद्ध 'धात्रीदेवता' शीर्षक से यही उपन्यास 'शनिवारेर चीठि' मे धारा-वाहिक निकला। प्राय: यही समय है जब प्रथम श्रेणी के बांग्ला कथाकार, उपन्यासकार के रूप में तारा बाबू की प्रतिष्ठा प्रख्याति का प्रसार प्रारम्भ होता है। 1939 से 1967 तक के अगले ढाई दशक का सुदीर्घ काल उनके जीवन में निरन्तर रचना सृजन और मान-सम्मान अर्जन का काल है। इसमें से भी 1939 से 1944 तक के छह वर्षों का अपना एक विशेष महत्व है। 1939 में 'धात्रीदेवता' पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ, फिर 1944 तक एक के बाद एक पांच और विशिष्ट उपन्यास कृतियां : 'कालिन्दी', 'गणदेवता', 'पंचग्राम', 'मन्वन्तर', 'कवि'। इन्ही छह वर्षों में कई कथा-संग्रह और दो नाटक, 'कालिन्दी' और 'दुइ पुरुष' भी प्रकाश में आये। दोनों नाटक मंच पर भी सफल उतरे। फलस्वरूप तारा बाबू अग्रणी नाटककार भी गिने जाने लगे।

तारा बाबू ने बंगाल के प्राचीन सामन्ती तन्त्र को नष्ट होते देखा था, साथ ही आधुनिक यन्त्र-प्रधान और अर्थ प्रमुख सभ्यता के आगमन को भी, स्वभावतः उनके सृजेता शिल्पी चेतन-अवचेतन मन पर जीवन की ऐति-

हासिक विनष्टि, विवर्तन एवं नवसूचना की स्पष्ट छाप आयी; और इनके आधार पर अपने उपन्यासों में उन्होंने सामन्त-तन्त्रीय प्रजापीड़न, जिजीविषा, दुराग्रह तथा स्वेच्छाचार के साथ उदारभाव, आत्मत्याग और जीवन-यज्ञ की दीप्ति का वर्णन किया तो दूसरी ओर यन्त्रशिल्प और 20वीं शताब्दी की तत्कालीन नयी चेतना की महिमा को भी रूप-स्वर दिया।

अपने साहित्यिक जीवन मे तारा बाबू ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व तक उपन्यास, कहानी, नाटक, भ्रमणवृत्त, आत्मचरित आदि सब मिलाकर 108 ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। विधा-क्रम से इनमे थे 50 उपन्यास, 41 कथासग्रह, 9 नाटक, 4 आत्मजीवनी, 5 प्रबन्ध-संग्रह, 1 कविता-सग्रह, 1 भ्रमणवृत्त। इन कृतियों मे से कई नाटक और कई उपन्यासो के नाट्य रूपान्तर कलकत्ते के रंगमंच पर सफल उतरे थे; उनकी कई कथा कृतिया चित्रायित हो चुकी थी। वे रवीन्द्र पुरस्कार (1955) और साहित्य अकादमी पुरस्कार (1956) से भी समादृत हुए थे।
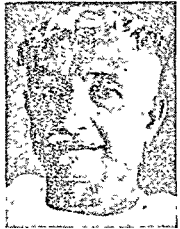
कुप्पालि वेंकटप्प पुट्टप्प

ख्यातनाम : कुवेंपु
जन्म : 29 दिसंबर, 1904
पुरस्कृत कृति : श्री रामायण दर्शनम्
भाषा : कन्नड़
विधा : महाकाव्य
पुरस्कार अवधि : 1935 से 1960
के बीच प्रकाशित साहित्य मे
सर्वश्रेष्ठ दो रचनाओं में से एक
पुरस्कार अर्पण : 20 दिसंबर, 1968
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : पचास हजार रुपया

तीसरा पुरस्कार : 1967

कुप्पालि वेंकटप्प पुट्टप्प

कृति साहित्य-स्रष्टाओं मे ऐसी प्रतिभाएं तो अनेक मिलेंगी जिन्होंने किसी एक साहित्यिक विधा मे विशिष्टता अर्जित की, किन्तु ऐसा असाधारण व्यक्तित्व साहित्य के इतिहास मे विरले ही देखने में आयेगा जिसकी सक्षमता का विभिन्न साहित्यिक विधाओं पर एक जैसा अधिकार हो। हमारे आज के युद्धो में ग्रसे और भय के मारे हुए युग में समर्थ महाकाव्य की रचना तो बिलकुल ही असम्भाव्य है। इस वास्तविकता के अपवाद के रूप में श्री कुवेंपु ही सामने आते है। श्री कुवेंपु एक महान् साहित्य-शिल्पी है जिन्होंने कन्नड साहित्य को अजानी साहित्यिक विधाओं, अकल्पनीय छन्दरूपो, एवं आध्यात्मिक भावचेतनामूलक काव्यानुभूतियों से सुसमृद्ध किया है। साहित्य की विभिन्न विधाओं मे शायद ही कोई हो जिसे उनकी चारुदक्षता का संस्पर्श नही मिला। उनका कृतित्व इतना विपुल और प्रातिभ है कि देखकर साहित्य का अध्येता स्तब्ध रह जाता है, और कन्नड़ साहित्य अब विश्व के विकासप्राप्त साहित्यों में कही भी समानता और गौरवपद का दावा अधिक विश्वासपूर्वक कर सकता है।

इस महान् द्रष्टा कवि कुवेंपु का जन्म 29 दिसम्बर, 1904 को, कुप्पालि मे हुआ था जो मलेनाड मे कोप्प-तीर्थहल्ली रोड पर तीर्थहल्ली से 9 मील दूर एक बिलकुल छोटा-सा पुरवा है। एक घर-घराने की यह बस्ती वहां के प्राकृतिक परिवेश में ऐसी जान पड़ती है मानो कोई दिव्य सौन्दर्य का पान किये पर्वत की गोद में आसन मारे ध्यानमग्न बैठा हो। कुवेंपु के पिता-माता, वेंकटप्प गौड और सीतम्मा, बडे सुसंस्कृत और एक भरेपूरे सम्मिलित परिवार वाले थे। परिवार के अन्यान्य बच्चों के बीच ही कुवेंपु का बालपन बीता और वही स्लेट की पाटी पर उनका अक्षरज्ञान हुआ। अध्यापक महोदय कभी तो वहां रहते नही थे और कभी दिनों तक

आते नहीं, इसलिए प्रारम्भिक शिक्षण न नियमित हुआ और न व्यवस्थित ही। किन्तु दैवी विधान और सहज प्रेरणा पर बालक कुवेंपु अपनी यथार्थ मां और शिक्षागुरु प्रकृतिदेवी की प्रभावशाला में आप ही दीक्षित हो चला। दैवी प्रकृति भी उस बालक की अन्तःस्फूर्त भावनाओं को पहचान कर यों मुक्त मन से उस पर अपने रहस्य उद्घाटित करने लगी मानो इसी आत्मा को जन्मान्तरों में खोजा था और अब प्रतीक्षा में थी।

फिर दैवी इच्छा हुई कि इस प्रकृति के लाडले को उसकी प्रेरणास्थली से छुड़ाकर नागर सभ्यता और नागर आचार-व्यवहार के अनचीन्हे-पराये वातावरण में रोपा जाये। और उच्चतर शिक्षा की आकुल लगन कवि को मलेनाड से मैसूर ले आयी; यहीं वह प्रकाश में आये। यहां स्कूल-काल में ही शेक्सपीयर से लेकर तॉल्सतॉय तक पश्चिम के जितने भी महामहिम साहित्यस्रष्टा थे, सब का उन्होंने पारायण कर डाला। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की जीवनियों और वाणी से परिचित होने पर तो इन्हें आलोक के नये-नये क्षितिज सामने खुलते दिखे। ये ही स्कूल के दिन थे जब कुवेंपु ने अंगरेजी में काव्य-रचना प्रारम्भ की। इन कविताओं का संग्रह 'बिगिनर्स म्यूज' शीर्षक से सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। उन्हीं दिनों संयोग से मैसूर में कहीं कवि की भेंट प्रख्यात आइरिश कवि जे०एच० कज़िन्स से हुई और इन्होंने अपनी कविताएं दिखायीं। बड़े चाव और सराहना के भाव से उन्होंने पढ़ीं और इन्हें कन्नड में लिखने का परामर्श दिया। तरुण कवि ने अपनी भाषा की परिसीमाओं और अनुर्वरता की बात बतायी, पर आवास की ओर लौटते हुए एक कविता 'स्प्रिंग' का कन्नड़ में रूपान्तर किया और सफलता पर जो हर्ष-आह्लाद उस समय अनुभव हुआ उसी के फलस्वरूप एक दिन उनकी काव्य-प्रतिभा पराकाष्ठा के शिखर पर लहराने लगी।

इस प्रकार उस अव्यक्त दिव्यता की उन्होंने प्रतीति प्राप्त की जो मातृभाषा के माध्यम से प्रकट होने की उत्सुक प्रतीक्षा में थी। फिर तो कुवेंपु ने काव्य-रचना के द्वारा ही सर्वोच्च की उपलब्धि के लिए अपनी तमाम शक्ति को समर्पित कर दिया। उन्होंने काव्य-विद्या को आनन्द-मोद की दृष्टि से नहीं, अपितु, परम दिव्य और सत्य के अन्वेषी की भावना से

अपनाया है। उनका दृढ विश्वास है कि कविता महान् न होगी यदि कवि की आध्यात्मिकता ही लयात्मक ध्वनि-विधान में रूपान्तरित होकर न आयी हो। और कुवेंपु की तो प्रत्येक रचना, वह गीत हो या नाटक, कहानी हो या महाकाव्य, आध्यात्मिकता से ही अनुप्राणित है। 'स्प्रिग' को कन्नड़ मे प्रस्तुत करने के दिन से लेकर आज तक वह निरन्तर और अचूक भाव से साहित्य-सर्जना करते आये है और न केवल कोई कवि-क्लान्ति कभी नही आयी बल्कि अपनी अनुभूतियों के नित नये साम्राज्य ही उन्होंने उद्घाटित किये। उनके आध्यात्मिक विकास-उत्कर्ष को प्रथम कविता 'अमलान कथे' से श्रेष्ठतम कृति 'श्रीरामायणदर्शनम्' तक एक अटूट रेखा-बंधे रूप मे देखा जा सकता है।

कुवेंपु की रचनाओं से ऐसा प्रदर्शित न होगा कि किसी परम्परा का परित्याग किया गया है। पर कुवेंपु जन्मजात क्रान्तिकारी है और अपेक्षित सभी गुण उनमे विद्यमान है। कन्नड़ भाषा और साहित्य के क्षेत्रों को उन से सहज रूप से अनेक नये दिशामार्ग प्राप्त हुए है। कन्नड़ साहित्य को समृद्ध करने में तो उनका बहुत बड़ा योगदान है। यह सत्य है कि उनकी प्रारम्भिक कृतियों मे कुछ त्रुटियां थी, पर जैसा किसी समीक्षक ने मन्तव्य प्रकट किया : "ऐसी त्रुटिया तो महान् कवियों से शुरू-शुरू में प्रायः हुईं।" थोड़े समय मे ही ये दूर हो गयीं और फिर तो कुवेंपु उत्कर्ष का शिखर के बाद शिखर के बाद शिखर छूते चरम शीर्ष तक आ पहुंचे। वह वास्तव में एक कलाकार हैं जिन्हे पूर्णतया समझने के लिए काव्याशास्त्र के सीधे-सरल नियम सहायक न होगे। उनकी कृतियां मात्र वास्तविकता को सामने नहीं लातीं, जो परा-वास्तविक है उसका भी संदर्शन कराती हैं। वे समकालीन समाजगत होने के साथ-साथ अपने आयामों में महाकाव्य भी होती हैं। कुवेंपु किसी प्राचीन विषय-वस्तु को भी लेते है तो लोक-समाज की रुचियों को देखते उसमें चाहे जो परिवर्तन नही करते, उनकी कृतियों मे तो राष्ट्र को मिला अतीत का समूचा रिक्थ उसके वर्तमान की अनुरूपता मे ढाला हुआ मिलता है। उनकी वाणी ही एक व्यक्ति की न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की आत्मा की वाणी होती है।

1936 में प्रकाशित अपने उपन्यास 'कानूरु हेग्गडिति' मे, जो एक

गद्य महाकाव्य है और कन्नड़ भाषा में अपने प्रकार की पहली रचना, उन्होंने मलेनाड के जीवन-ससार का चित्रण किया है; और इसमें जहा एक ओर प्राकृतिक सौन्दर्य की असारता और भव्यता का अंकन हुआ वहां दूसरी ओर जीवन के अप्रिय और अस्वस्थ पक्षों का भी निर्मम निरपेक्षता के साथ वर्णन किया गया है। यों इसका पूरा परिप्रेक्ष्य और चरित्र स्थानीय है, किन्तु वे सर्वदेशीय भी हो जाते हैं। क्योंकि इस उपन्यास में चित्रण अधूरे या अंशमात्र जीवन का नही, समग्र और सम्पूर्ण जीवन का किया गया है। 1967 मे उनका दूसरा उपन्यास 'मुलेगलल्लि मदुमगलु' आया। इसमें मलेनाड का उससे भी पूर्व का जीवन चित्रित किया गया है। पिछले उपन्यास से यह कहीं बढ़-चढ़कर है, भले ही ऊपर से देखनेवाले पाठक को ऐसा न लगे। यहां कवि अपनी आध्यात्मिकता के स्तर पर अधिक प्रौढ़ है: उसे जीवन के प्रति मोह-बाधा जैसे अब नहीं रह गयी। इस कृति में लेखक के माध्यम का सहारा लिये बिना जीवन स्वयं अपने को उघाड़ता चलता है: मानो आदि से अन्त एक 'सामूहिक अचेतन मन' सक्रिय हो। यह देख-कर सचमुच आश्चर्य होता है कि अपने आध्यात्मिक ओज का 'श्रीरामायण दर्शनम्' जैसी महा-महिम क्लैसिक मे भरपूर उपयोग कर लेने के बाद भी इस विलक्षण उपन्यास की सृष्टि के लिए इतनी ऊर्जा कवि में थी।

'श्रीरामायणदर्शनम्' महाछन्दों में रचा हुआ कन्नड़ भाषा का प्रथम महाकाव्य है जो श्री वाल्मीकि रामायण पर आधारित होते हुए भी नये-नये आयामों का विस्तार पाकर पूर्णतर हो उठा है। इस बहुआयामी महाकाव्य में वास्तव और वास्तविक, कालगत और शाश्वत, सामयिक और चिर-स्थायी, तथा भौतिक और आध्यात्मिक, सबका एक विराट् सम्पूर्ण मे अन्त-प्रेरित कुशलता के साथ समेकन हुआ है। यह कुवेंपु की अत्यन्त विशिष्ट रचना है जहां अतीत का वर्तमान में भविष्यत् से करस्पर्श होता है, जहा दिव्यता दानवता को आलिंगन में लेती है, और जहा महान् की परिणति में तुच्छतम भी योगदान करता है। यहीं पर कवि को'मूल मानव'और, भावी 'अतिमानव' की ओर दृष्टि साधे, 'आधुनिक मानव' दोनों रूपों में लक्षित किया जा सकता है।'श्रीरामायणदर्शनम्'वास्तव मे एक समूचे आध्यात्मिक जीवन का निष्कर्ष है और एक तन्मयकारी अतिमानस-चेतना का अवदान,

जहा पूर्व और पश्चिम भी परिणय-प्रीति के सूत्र में बंधे मिलते हैं। कहा गया है कि इस महाकाव्य मे "एक श्रेष्ठ प्राणवान् व्यक्ति की आजीवन भावना-साधना का सार-सत्व जीवनातीत जीवन के उद्देश्य से क्षयमुक्त हुआ आसचित है।"

पुर्वेपु की बहुमुखी प्रतिभा साहित्य-सर्जना तक ही सीमित नहीं। यों बहुत मिलना-जुलना उन्हें नही सुहाता, जनसमूहो से तो भय जैसा खाते हैं; और ऐसी कार्यप्रवृत्तियो से दूर भागते हैं जो 'साधना' में अन्तराय बनें। किन्तु सौपे जाने पर किसी काम को यदि स्वीकार कर लेते हैं, भले ही उन की दृष्टि से वह कितना ही 'सांसारिक' हो, तब उसमे पूरे मन से लग जाते है। मैसूर विश्वविद्यालय में उनका प्रवेश 1929 में कन्नड़ भापा के व्याख्याता के रूप मे हुआ था और एक के वाद दूसरी श्रेणी पार करते वह उपकुलपति पद पर आसीन हुए। देश का यह एक बड़ा विश्वविद्यालय है, और चार वर्ष से अधिक जिस प्रकार इसका कार्य-सचालन इन्होने किया वह अत्यन्त उल्लेखनीय है। स्नातकोत्तर अनुशीलन-अनुसंधान केन्द्र के रूप मे वहा 'मानसगंगोतरी' की स्थापना इसका प्रमाण है, और साथ ही उन की दूरदर्शिता एवं दृढ़ता का भी।

डॉ०पुट्टप्प के प्रोन्नत व्यक्ति को देखने से उनके बड़े अभिजात स्वभाव-वाला होने का भ्रम हो सकता है। वास्तव में वह मूलत: जनसमूह का ही अभिन्न अंग हैं। निर्धन-प्रपीड़ितो के दु.ख और कष्ट उनको दृष्टि से कभी ओझल नही रहे, और सौभाग्य का अनुग्रह जिन्हे नही मिला उनकी आपद-विपद और यातना-वेदना के प्रति उनकी सहज-सवेदनशीलता आकुल होकर सदा बह-बह आयी है। अनेक गीत और नाट्य-कविताएं हैं जहां उनके अन्तर की करुणा-पीड़ा फूट पड़ी है। सर्वसामान्य के प्रति अपनत्व के इस दृष्टिकोण की ही प्रेरणा पर उन्होंने क्षेत्रीय भापाओं के विकास-प्रसार को अपना समर्थन दिया।

पद्म भूपण से अलंकृत कवि पुट्टप्प के ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोपणा से पूर्व 24 काव्य सग्रह, 5 कहानी/उपन्यास, 7 बालोपयोगी पुस्तकें, 9 पुस्तकें निबन्ध और समीक्षा पर, 11 नाटक, 5 स्मृति-चित्र और कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके थे।

उमाशंकर जोशी

जन्म : 21 जुलाई, 1911
स्मृति शेष : 19 दिसबर, 1988
पुरस्कृत कृति : निशीथ
भाषा : गुजराती
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1935 से 1960
के बीच प्रकाशित साहित्य में
सर्वश्रेष्ठ दो रचनाओं में से एक
पुरस्कार अर्पण : 20 दिसंबर, 1968
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : पचास हजार रुपया
पुरस्कार राशि से गुजराती कविता के
लिए निशीथ संस्था का श्रीगणेश

तीसरा पुरस्कार : 1967

उमाशंकर जोशी

कुछ लेखक होते हैं जिनका व्यक्तित्व उनके लेखन में सीमित नही होता, अन्य अनेक दिशा-क्षेत्रो मे भी प्रकाश मे आता है, और वह समाज पर प्रभाव उनके जीवन-काल मे ही स्थापित कर देता है। उमाशंकर ऐसे ही लेखको में मे थे। गुजराती के वरिष्ठ कवि-आलोचक श्री बलवन्तराय ठाकोर ने उनके निबन्ध-संग्रह 'गोष्ठी' की समीक्षा करते हुए 1951 में कहा था : "उमाशंकर अब मात्र व्यक्ति नही रह गये, न ऐसे लेखक ही कि आदि-आदि की श्रेणी में रख दिये जायें। वह एक दायित्वशील, समर्थ और प्रभावशाली लेखक के नाते ऐमे सार्वजनिक व्यक्ति बन चुके हैं कि उपेक्षित नही किये जा सकते।"

उमाशकर का जन्म 21 जुलाई, 1911 को गुजरात के ईडर जिले मे वामणा नामक गांव में हुआ था। पहाड़ियों का आचल थामे कलकल करती बहती एक छोटी-सी नदी किनारे बसे इस छोटे-से गांव मे ही उनका बचपन बीता और यही प्रारम्भिक शिक्षा हुई। उमाशंकर इसी सरल और मनोज्ञ परिवेश की उपज थे। यही के धरती-आकाश और पत्थर-पानी से उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ और उसी में उनकी काव्य-प्रतिभा के भी प्रेरणामूल हैं। अनेक रचनाए है उनकी, कविताए ही नही नाटक-कहानी और उपन्यास तक, जिनकी काया और प्राणो में वामणा की पहाड़ियां बसी हुई हैं। जीवन-भर ये पहाडियां उनकी आंखों में चाहे जब छलछला आती रही।

आगे की शिक्षा के लिए वह ईडर आये और 1926 तक वहा उनका स्कूल-काल बीता। उन्होने लिखा है : "स्कूल मे जिस पुस्तक का मुझ पर सबसे अधिक जादू रहा वह वम्बई के एक प्रकाशक का सूचीपत्र था। सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों और उनके बड़े-बड़े लेखकों के नाम मेरे किशोर मन की एक गोप्य निधि थे।" स्कूल के अन्तिम वर्ष तक उमाशंकर को लघु-

गुरु का ज्ञान नामाचार को ही था। तरुणाई में उनकी साध ऐसी कविताएं लिखने की थी जो खूब रोमैण्टिक हों, और रहस्य-रोमांच भरी, सुखद नाटकीय। पर मित्रों को एक मध्ययुगीय कवि का रामायण-अनुवाद सुनाते उन्हें शब्द-सौन्दर्य और शब्दों की काव्यगत लयात्मकता का बोध हुआ। फिर छुट्टियों में जब उत्सव-मेले देखते उन्होंने लोकगीत सुने और आश्विनी की चम्पई चांदनी में *गरबा रासगीतों मे अवगाहन किया, तब मानव के* सवेगों के सुन्दर पक्ष और प्रकृति के अपार विस्तार मे उपलब्ध उनके तुल्यरूपों का दर्शन पाया। किन्तु काव्य-सर्जना के लिए अपेक्षित तैयारी अभी अधूरी थी।

1927 में उमाशंकर मैट्रिकुलेशन के लिए अहमदाबाद आ गये। यहां उनके हाथ 'काव्यमाधुरी' की प्रति आयी। इस संकलन ने उनका आधुनिक गुजराती काव्य से साक्षात्कार कराया। नानालाल और बलवन्तराय की रचनाओं ने तो विशेष प्रभावित किया। अगले वर्ष गुजरात कॉलिज में पहुंचकर उन्होंने नानालाल की काव्यनाटिका 'इन्दुमती' और कविता-संग्रह *'चित्रदर्शनी' तथा बलवन्तराय की आलोचना* पुस्तक 'लिरिक' बड़े चाव से पढ़ी। दिवाली की छुट्टियां आयीं तो मित्रों के संगसाथ में उमाशंकर आबू गये। वहीं उनके जीवन की वह चमत्कारी घटना घटी जिसका न भेद बूझते बना न प्रभाव ही थाहा जा सका। वशिष्ठाश्रम के बरामदे में वह खड़े थे, सामने नक्खी झील हिलोरें मार रही थी, और सारी जगती पर शरदपूर्णिमा की दिव्य मोहिनी निर्बाध छहर-लहर रही थी। अकस्मात् इस 17 वर्षीय तरुण के कानो में मन्त्र पड़ा: 'इस सौन्दर्यश्री का पान कर, अन्तर से गीत आप फूटेंगे।' उमाशंकर की यही काव्य-दीक्षा थी।

1930 मे कालेज और पढ़ाई छोडकर उमाशंकर सत्याग्रह संग्राम मे जा सम्मिलित हुए और साबरमती जेल मे रखे गये। वहां उस वर्ष, उन के जीवन में एक और महत्वपूर्ण काव्यप्रेरक क्षण का आविर्भाव हुआ। उन दिनों उनका ऐसा था कि तारों की ओर दृष्टि जाती तो मुग्ध हुए देखते रह जाते। सारी-रात फिर अक्सर यों ही बीतती। एक दिन उषाबेला अभी दूर थी और उमाशंकर ऊपर निहारते बैठे से अपने अन्तर की अथाह *गहराइयों की सोचते विस्मित थे, कि अचानक शिरोभाग में कुछ अदृश्य*

कहीं कौंधा और जैसे अंग-अंग का भीतर से मर्दन हुआ हो यों थकित और विस्फुरित से वहीं लुढ़क गये। वह एक अपूर्व अनुभूति थी आत्मविस्मरण की, जहां अन्धकार नहीं मंजुल आलोक था और रिक्तता के स्थान पर एक पूर्णता की प्रतीति थी। उन्हें प्रेरणा मिली कि एक काव्य-नाटिका लिखें, और उसी दिन से वह तैयारी में लग गये।

इसी भावना के अन्तर्गत 1931 में, जब काकासाहब कालेलकर के पास विद्यापीठ में थे, उन्होंने 'विश्वशान्ति' लिखी। दो महायुद्धों के बीच रचित उमाशंकर की यह 400 पंक्तियों की कविता गांधीजी की आस्था-वाणी को एक युवा हृदय के ओज-भरे स्वरों में प्रतिध्वनित करती है कि शान्ति की स्थापना एकमात्र अहिंसा-प्रेम के ही द्वारा सम्भव हो सकती है। कविता को पाठक-जगत ने तो समादृत किया ही, कालेलकर और नरसिंहराव जैसे विवेकी आलोचकों ने भी सराहा। तीन वर्ष के बाद उमाशंकर की दूसरी काव्यकृति 'गंगोत्तरी' प्रकाश मे आयी जो मानव के मन, सम्बन्धों, और विचार-व्यवहार के विभिन्न पक्षों को लेकर उनके वास्तविकता-बोध को अभिव्यक्त करती है।

1934 में उमाशंकर ने एलफिन्स्टन कॉलेज में प्रवेश किया। बी० ए० में इतिहास और अर्थशास्त्र उनके विषय थे। 1937 मे एम० ए० किया तो गुजराती और संस्कृत लेकर। पहले गोकलीबाई हाई स्कूल विले-पार्ले में अध्यापक रहे, एम० ए० करने के बाद सिडनहम कॉलेज में व्याख्याता हो गये। 1936 में उन्हें 'गंगोत्तरी' पर गुजरात का सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार 'रंजीतराम सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया गया। अगले वर्ष 'सापनाभारा' शीर्षक से उनके एकांकी पुस्तकाकार आये; इसी वर्ष ज्योत्स्नाबेन के साथ उनका परिणयबन्धन भी हुआ। थोड़े दिनों बाद उमाशंकर की कहानियों का पहला संग्रह 'श्रावणी मेलो' निकला और दूसरा वर्ष लगते-न-लगते दूसरा संग्रह 'त्रण अर्धुं बे' भी। 1939 मे वह स्थायी रूप से अहमदाबाद लौट आये। यहां गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी में, जो 1948 से गुजरात विद्यासभा कहलायी, प्रारम्भ मे शोध विभाग में रहे, बाद को प्राध्यापक हो गये। 1939 में ही 'निशीथ' का प्रकाशन हुआ, जो उनका तीसरा काव्य-संग्रह है।

'निशीथ' में सब 116 कविताएं सग्रहीत है। उमाशंकर की यह कृति गुजराती साहित्य के चौथे से छठे दशक का सर्वोत्तम गीतिकाव्य प्रस्तुत करती है। इसके छन्दों, शैली-शिल्प, रूप-विधान और विषयवस्तु का वैविध्य कवि के मन की विस्तारशीलता और उसकी भावनाओं की गहराई को घोषित करता है। संस्कृत के क्लासिक छन्दों से लेकर गुजराती के नितान्त आधुनिक छन्दों तक का प्रयोग इस में बड़े अधिकारभाव और विश्वास-कुशलता के साथ किया गया है। कवि के लिए जितनी सुकर और स्वाभाविक कथन-आलाप की शैली बनी है, वाग्मिता और अलंकारपूर्णता की भी। उसने जिस सहजता से सामान्य पद्य, गीति-काव्य और गेयगीत दिये हैं उसी से शोकगीति, चतुर्दशपदियां और काव्यसूक्तियां भी। जिन विम्बों की यहां कल्पना की गयी है वे परस्पर इतने विभिन्न है जितने कि अनचुआ आंसू और आकाश की सुदूरियों में खोया तारक। इसी प्रकार इन कविताओं की विषयवस्तु भी अत्यन्त विविधतापूर्ण है: एक ओर किसी के प्रति पागल प्यार तो दूसरी ओर निखिल मानवजाति का भविष्यत्!

1946 से 1954 तक का काल उमाशंकर ने स्वतन्त्रजीवी होकर बिताया। इसी काल में उन्होंने संस्कृत के क्लैसिक काव्य एवं नाट्य साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया। 1954 में उमाशंकर जोशी गुजरात विश्वविद्यालय में साहित्य एवं भाषा विभाग के निदेशक नियुक्त किये गये और साहित्य अकादमी एवं उसकी कार्यसमिति के सदस्य बनाये गये। 1955 में उन्हे गुजराती साहित्य परिषद् के साहित्य विभाग का अध्यक्ष चुना गया। अगले वर्ष वह ललित कला अकादमी में भी आ गये, और भारत सरकार द्वारा नियुक्त एक विशेष शिष्टमण्डल के सदस्य होकर अमरीका भी गये। लौटते हुए उन्होंने लन्दन में अन्तर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० के अधिवेशन मे भाग लिया और फ्रान्स, जर्मनी, इटली, यूनान आदि का भ्रमण किया। 1957 मे भारतीय पी० ई० एन० के प्रतिनिधि-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० के तीसवें अधिवेशन में सम्मिलित हुए और उसी वर्ष कलकत्ते मे हुए निखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के एक विभाग विशेष की अध्यक्षता भी उन्होंने की। 1961 में उन्हें टैगोर शतवार्षिकी

आयोजन से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श परिषद् में भाग लेने का अवसर मिला और उडिया लेखक संघ 'विपुवमिलन' के प्रधान अतिथि एवं अध्यक्ष भी चुने गये। इसके तत्काल बाद केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय लेखकों के शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में वह सोवियत रूस गये। लौट कर आये तो टैगोर शतवार्षिकी समारोह के अन्तर्गत अखिल भारत बंगीय सम्मेलन द्वारा महाकवि के कलकत्ता स्थित जोरासांको वाले आवास-भवन में आयोजित विचार-संगोष्ठी का उन्होंने उद्घाटन किया। 1962 मे उमाशंकर भारतीय पी० ई० एन० के मैसूर अधिवेशन के एक विभागीय अध्यक्ष चुने गये; फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय के विशेष आमन्त्रण पर उन्होंने रवीन्द्रनाथ के कहानी-साहित्य एवं उत्तरकालीन काव्य-साहित्य पर एक अत्यन्त विचारपूर्ण तथा मननीय व्याख्यानमाला प्रस्तुत की। अगला वर्ष उन्हें एक मार्मिक आघात पहुंचाने वाला हुआ: श्रीमती ज्योत्स्नाबेन नहीं रहीं!

1966 मे पूना विश्वविद्यालय के आमन्त्रण पर उन्होंने रवीन्द्रनाथ के काव्य पर एक व्याख्यानमाला प्रस्तुत की और गुजरात विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी निर्वाचित हुए। श्री जोशी को ज्ञानपीठ पुरस्कार की निर्णायक प्रवर परिषद का अध्यक्ष बनने का भी गौरव प्राप्त हुआ है। वे साहित्य अकादमी के भी अध्यक्ष रहे। श्री जोशी ने पुरस्कार में मिली 50 हजार रुपये की राशि से गुजरात में एक संस्था की स्थापना की जो विश्वभर की श्रेष्ठ काव्यकृतियों के गुजराती अनुवाद के प्रकाशन का सुकार्य करती है। ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व श्री जोशी के दस कविता संग्रह, दो नाटक, चार कहानी संग्रह, एक उपन्यास, दो निबन्ध संग्रह, आलोचना ग्रंथ, दो शोध अनुसंधान, दो अनुवाद, तीन संपादित ग्रंथ प्रकाशित हो चुके थे। 1973 मे उमाशंकर जी को उनकी पुस्तक 'कविनी श्रद्धा' के लिए साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला।

☐ विशेष: यह पहला अवसर था जब पुरस्कार दो साहित्यकारों को संयुक्त रूप से दिया गया। श्री उमाशंकर जोशी के साथ सहविजेता थे—कन्नड़ कवि—कुवेंपु।

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म : 20 मई, 1900
स्मृति शेष : 1977
पुरस्कृत कृति : चिदम्बरा
भाषा : हिन्दी
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1945 से 1961
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 19 दिसंबर, 1969
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

चौथा पुरस्कार : 1968

सुमित्रानन्दन पन्त

कवि सुमित्रानन्दन पंत का जन्म 20 मई, 1900 को उत्तर प्रदेश के अल्मोडा जिले के अन्तर्गत कौसानी में हुआ था। वहीं गांव के स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा हुई, फिर वह वाराणसी आ गये और जयनारायण हाई स्कूल से स्कूल लीविंग परीक्षा पास की। इसके बाद उन्होने इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज मे प्रवेश किया, पर इण्टरमीडिएट की परीक्षा में बैठे कि उससे पहले ही 1921 मे असहयोग आन्दोलन के आवर्त में आ गये। उन्हें फिर संघर्षों के एक लम्बे युग को पार करना पड़ा। निरन्तर यह चेष्टा भी करते हुए कि किसी प्रकार कुछ निश्चिन्त हो और अपने को काव्य एवं साहित्य की साधना मे लगा सकें। क्योंकि यह बहुत पहले ही उन्होंने समझ लिया था कि उनके जीवन का लक्ष्य और कार्य कोई है तो काव्य-साधना ही।

सन् 1950 तक जैसे उनका अपना घर कोई न था। उन्हें विवश होकर बराबर ही मित्रों के साथ रहना पडता था। यही काल था जब पंतजी की भाव-चेतना ने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी और श्री अरविन्द की रचनाओं के प्रभाव ग्रहण किये। साथ ही, कुछ मित्रों ने मार्क्सवाद के अध्ययन की ओर भी उन्हे प्रवृत्त किया और उसके विभिन्न सामाजिक-आर्थिक पक्षों को उन्होने गहराई से देखा-समझा। 1950 में उनके जीवन मे एक मोड़ आया जब वह रेडियो विभाग से सम्बद्ध हुए। सात वर्ष उन्होंने हिन्दी चीफ प्रोड्यूसर के पद पर कार्य किया, उसके बाद साहित्य-सलाहकार के रूप में। 1950 से 1960 के दशक मे उनके काव्य एवं आधुनिक हिन्दी साहित्य को उनके अवदान का विवेचन-मूल्यांकन करती अनेक रचनाएं प्रकाश में आयी।

1961 मे भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित किया।

इसी वर्ष उन्होंने सोवियत रूस, इंग्लैंड तथा अन्य कई यूरोपीय देशों का भ्रमण किया, और 'कला और बूढ़ा चांद' शीर्षक काव्यकृति पर साहित्य अकादमी पुरस्कार भी उन्हें मिला। 1964 में उत्तर प्रदेश सरकार ने एक विशेष साहित्य पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया और अगले वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया। देव पुरस्कार और द्विवेदी स्वर्ण पदक वह पहले ही प्राप्त कर चुके थे। विक्रम विश्वविद्यालय और गोरखपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डी०लिट्० की मानद उपाधि प्रदान की।

सुमित्रानन्दन पंत आधुनिक हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक कवि थे। उन्होंने भाषा को निखार और संस्कार देने, उसकी सामर्थ्य को उद्घाटित करने, तथा सौन्दर्य और लालित्य की दृष्टि से उसे एक सन्तोषजनक रूप प्रदान करने के अतिरिक्त जो नव-नवीन विचार-भावों की समृद्धि दी है वह क्रांतिकारी सम्पन्न कवि से ही सम्भव थी। विगत कई दशकों के साहित्य जगत् की वह एक ऐसी जागरूक एवं ऊर्जस्वी प्रतिभा थे जो अपनी महान् कृतियों के द्वारा कीर्ति-गौरव की नित नयी सरणियां उद्भासित करते आये। उन्होंने हिन्दी भाषा और उसके माध्यम से आधुनिक युग की समग्र काव्य चेतना को एक अपूर्व प्रभावगुण से सम्पन्न किया। इतना ही नहीं, शब्दों की शक्ति सामर्थ्य अपने वाच्यार्थ से बहुत दूर आगे तक जाती है इसे भी सबसे पहले पहचानने और प्रकट करने का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने ही खड़ी बोली की प्रकृति को देखते-समझते हुए छन्दों के स्वरक्षलयुक्त रूप को प्रचलित करने का सबसे पहले प्रयास किया। छन्द और भाव प्रवाह, शैली और विषयवस्तु, एवं शब्दों और उनके अर्थ में समस्वरता उनकी काव्यकला की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उनकी सौन्दर्य विषयक अभि-व्यंजना इतनी तटस्थतापूर्ण होती थी कि उसके प्रति उनके अपने राग और सम्पृक्तता भाव को पहचानना सरल नहीं होता। उसमें यह विशेष प्रभाव-गुण भावों और लय के परस्पर सामंजस्य के ही फलस्वरूप आता था। उनमें कला सहज रूप से उद्भूत होती थी जो उनकी अभिव्यंजना को आप-से-आप एक सन्तुलन, मार्दव और माधुर्य दे देती थी।

सुमित्रानन्दन पंत का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही गीतात्मक था। वह मूलतः

और मुख्यत: गीतकार थे। प्रकृति के साथ उनकी भावात्मक ऐक्य की अनुभूति उनके काव्य में बडी मशक्तता से मुखरित हुई है। जो पुलकभरी भावाकुलता और भावुक समर्पणशीलता पंतजी के प्रकृति-काव्य की विशिष्टता है वह छायावादी कवियों में भी अन्यत्र नही मिलती। बीच-बीच में रहस्य और अध्यात्म के स्पर्श आ जाने से, जो प्रकृति चित्रण को भी एक भीनी उदात्तता से मण्डित करते है, पंतजी का काव्य वस्तुत: अनूठा और अनुपम हो उठा है। उनके नारी सौन्दर्य के वर्णन मे भी एक ऐसी सजीव व्यक्तिमूर्ति का द्योतन होता है जो व्यापक गुण-लक्षणों से युक्त हो, रीतिकालीन कवियों के अतिरंजनापूर्ण बाह्य रूपपरक चित्रणों से सर्वथा भिन्न रहता है।

पंतजी सदा ही अत्यंत सशक्त और ऊर्जस्वी कवि रहे हैं। उनकी प्रकृति विषयक प्रारम्भिक कविताओं का सरल बालोचित विस्मय-विमुग्धता का भाव इतना चित्ताकर्षी होता था कि उन्हे प्रधानत: प्रकृति का कवि माना जाने लगा। किन्तु वास्तव में पंतजी तो मानव सौन्दर्य और आध्यात्मिक संचेतना के भी उतने ही कुशल कवि हैं। धीरे-धीरे सम्पूर्ण मानव जाति के सामाजिक पुनरुत्थान के प्रति भी उनकी निष्ठा विकसित हुई।

पतजी का 'पल्लव', 'ज्योत्स्ना' तथा 'गुंजन' काल (1926-33) उनकी सौन्दर्य एवं कला साधना का रचना-काल रहा। वह मुख्यतः भारतीय सास्कृतिक पुनर्जागरण की आदर्शवादिता से अनुप्राणित थे। प्रकृति की एक सौन्दर्य-स्थली में जन्मे होने के कारण उनकी उस काल की रचनाओ में स्वभावत: प्रकृति-प्रेम तथा सौन्दर्य भावना का प्राधान्य रहा है; साथ ही 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध के अंग्रेजी कवियों की आशावादिता तथा कला-शिल्प का भी हाथ उन्हें संवारने में रहा। शेली की उदात्त कल्पना, कीट्स की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि, वर्ड्स्वर्थ का गम्भीर प्रकृति-प्रेम तथा टेनिसन और स्विनबर्न का भाषाबोध—इन सबने उनके मन को आकर्षित किया। एक प्रकार से वह उनका काव्यकलाजनित मूल्य-विन्यास का युग था। किन्तु 'युगान्त' (1937) तक आते-आते वहिर्जीवन के गुरुत्वाकर्षण के कारण उनके भावनात्मक दृष्टिकोण मे परिवर्तन आये।

यद्यपि 1921 के असहयोग आन्दोलन मे उन्होने कॉलेज छोड़ दिया

था पर देश के स्वाधीनता संग्राम की गम्भीरता के प्रति उनका ध्यान 1930 के नमक सत्याग्रह के समय से अधिक केन्द्रित होने लगा, और फिर उनका मन कल्पना की भूमि से उत्तरोत्तर वास्तविकता की भूमि पर उतरने लगा। इन्ही दिनों संयोगवश उन्हें कालाकांकर में ग्राम-जीवन के अधिक निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। और मूर्तिमान दारिद्र-स्वरूप उस ग्राम-जीवन की पृष्ठभूमि में जो संवेदन उनके हृदय में अंकित होने लगे उन्हे वाणी देने का प्रयत्न उन्होंने 'युगवाणी' (1938) और 'ग्राम्या' में किया है। यहा से उनका काव्य युग के जीवन-संघर्ष तथा नयी चेतना के प्रस्फुटन का ही दर्पण बन जाता है। उनका मन बाह्य जीवन के यथार्थ को समेटने-सुलझाने में संलग्न रहने लगता है।

'युगवाणी' वास्तव में 'ग्राम्या' की गीता है। उन्होने उसमें नवीन जीवन-वास्तविकता के विकास की दिशा, अर्थात् राशिवाचक ईश्वर के भावी स्वरूप, जिसे गाधीजी 'दरिद्र नारायण' कहते थे, का निर्देश किया है। 'ग्राम्या' में एक ओर यदि मध्ययुगों के विश्वासों एवं जीवन-पद्धतियों में पथराई हुई लोक-मानवता का चित्रण है तो दूसरी ओर उस नई अमूर्त संवेदना का भी है जो आज मन के स्तर पर उदय होकर, विगत जीवन-यथार्थ के ढांचे को बदलने के लिए, समस्त देशों मे अनेक रूपों में संघर्ष कर रही है। 'पल्लव'—'गुंजन' काल में उन्होने परम्परागत कलाबोध ही का नवीनीकरण कर उसे अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उसका रूप-जगत पुनर्जागरण काल का भावजगत् होने के कारण चिरपरिचित रहा। किन्तु 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में तथा आगे की रचनाओं में उनकी कल्पना ने अनुद्घाटित क्षितिजों में प्रवेश कर वहां के भाव-वैभव को वाणी में मूर्त करने का प्रयत्न किया। स्वभावत: उसमें रूप-कला का स्थान भाव-वैभव ने और विचारों-मान्यताओं का स्थान चेतना के स्पर्श ने ले लिया। यहां से उनकी सृजन-चेतना में कला का प्रयोग कला के लिए न रहकर जीवन को संवारने के लिए होने लगा, जो इस वैज्ञानिक युग की एक अनिवार्य आवश्यकता थी। "बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम", जैसाकि 'युगवाणी' की इस उक्ति से चरितार्थ होता है।

1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद जो निरंकुश दमनचक्र

देश में चला उसने उनके चित्त को अत्यन्त विचलित किया; फिर 1947 मे भारत के विभाजन का प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ा। इसी मानसिक व्यथा तथा दुराशा के अन्धकार की स्थिति में उनके भीतर यह सत्य दृढ रूप से अंकित हो गया कि केवल राजनीति की लाठी से ठोंक-पीटकर ही मनुष्य को मानव नही बनाया जा सकता; इस विराट विश्व-विवर्तन के राजनीतिक-आर्थिक युग मे मनुष्य को एक उतने ही व्यापक तथा सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन की भी आवश्यकता है जो बाहरी जीवन-परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुरूप मनुष्य के अन्तर्गत एवं भीतरी संस्कारों के मन की तथा मनुष्य के अन्तःसत्य के अनुरूप बाहरी जगत् के परिवर्तनों को मानवीय जीवन-गरिमा के सन्तुलन में ढाल सके। इस सांस्कृतिक अनुष्ठान की प्रेरणा उन्हे 'लोकायतन' के रूप मे मिली।

इस नवीन सांस्कृतिक प्रेरणा से अनुप्राणित होकर उनका मन 'ग्राम्या' के वहिर्जगत के धरातल से उठकर मनुष्य के विचारों-भावों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सांस्कृतिक मूल्यों के अन्तर्जगत की ओर आरोहण करने लगा। इस यात्रा के चरण-चिह्नों तथा स्वप्न-संवेदनों को उन्होने 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' आदि (1947) में मूर्तित करने का प्रयत्न किया है, जिन्हें उनके काव्य के स्वर्णयुग की रचनाएं कहा जाता है।

'ग्राम्या' 1940 मे लिखी गई थी। 1940 से 1946 तक का काल उन्हे, एक प्रकार से, मनुष्य के अमूर्त अन्तर्जगत के मानचित्र का परिचय प्राप्त करने में लगा। इसमें एक वर्ष उनकी अस्वस्थता मे भी गया। शेष पांच वर्षों में उन्हें अपनी चेतना को बाह्य परिस्थितियों के धक्के से उबारने के लिए मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करना पड़ा। इसी बीच संयोगवश वह श्री अरविन्द आश्रम के सम्पर्क में भी आये। और जो दृष्टि स्वतन्त्र चिन्तन-मनन से उनके भीतर जन्म ले रही थी, उसी के एक पक्ष का समर्थन उन्हे वहां मिला। फलतः अनेक दिनों से निष्क्रिय पड़ी उनकी सृजन-चेतना का स्रोत फिर से उन्मुक्त हो मुखरित हो उठा।

पंतजी की ये रचनाएं किसी दर्शन विशेष से प्रभावित नहीं हैं। शायद दर्शन के बौद्धिक ढांचे में बंधकर इस प्रकार का सृजन-प्राण लेखन सम्भव

भी नहीं होता। ये रचनाएं उन्होंने मानव भविष्य के गुरुत्वाकर्षण से खिंच कर अपनी ही अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर लिखी। इस प्रकार की दृष्टि उन्हें 'पल्लव' काल के बाद ही मिल गई थी जिसका दिग्दर्शन उन्होने 'पुरुषोत्तम राम' नामक खण्डकाव्य में उपस्थित किया है।

'चिदम्बरा' काल (1958) के बाद 'लोकायतन'(1964) में उन्होंने धरती की चेतना ही को मुख्य स्थान दिया है और गीता का रूपक बांधकर उसे मध्ययुगीन नैतिक संस्कारों तथा रूढ़ि-रीतियों की शृंखलाओं से मुक्त कर धरा-चेतना का नवीन युग के अनुरूप मानवीकरण तथा आधुनिकीकरण किया है। 'पल्लव'-'गुंजन' काल में कला-संस्कार की समीक्षा के बाद तथा 'ज्योत्स्ना' में एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक स्वर्ग की सम्भावनाओं की एक मोटी रूपरेखा दृष्टिगोचर होने के बाद उनके मन में नवीन युग के अनुरूप नवीन जीवन-मूल्यों का संघर्ष नये-नये रूप धारण करने लगा।

'स्वर्णकिरण' तथा उसके बाद की रचनाओं मे उन्होने किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक सत्य को वाणी न देकर व्यापक मानवीय सांस्कृतिक तत्त्व को अभिव्यक्ति दी है जिसमें अन्न-प्राण, मन-आत्मा आदि मानव जीवन के सभी स्तरों की चेतना को संयोजित करने का प्रयत्न किया गया है। ये रचनाएं अनेक आलोचकों को विचार-चिन्तन गर्भित लगती हैं। वास्तव में वे नये विश्वजीवन की अनुभूति-जनित भावना के घनत्व के कारण बोझिल प्रतीत होती हैं। 'लोकायतन' मे उन्होंने किसी महान व्यक्तित्व को जन्म न देकर मानव-चेतना को ही उसके नायक या नायिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है जो विश्व-विकास के क्रम मे निरन्तर आगे बढ़ती जाती है।

'चिदम्बरा' सन् 1958 का प्रकाशन है। इसमें 'युगवाणी' (1937-38) से 'अतिमा' (1954) तक कवि की 10 कृतियो से चुनी हुई 196 कविताएं संकलित है। एक लम्बी आत्मकथात्मक कविता 'आत्मिका' भी इसमें सम्मिलित है जो 'वाणी' (1957) से ली गई है। 'चिदम्बरा' पंतजी की काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है।

'चिदम्बरा' मे प्रकृति काव्य के बड़े सुन्दर-सुन्दर उदाहरण संचयित हैं; कवि की सौन्दर्यबोधी भाव-चेतना के रूप-स्वर ग्रहण करने में प्रकृति के

नाना भव्य एवं शुभ प्रभावों के तो विशेषकर हैं। उसमें मानव मानस पर अधिरूढ अन्धशक्तियों का भी अनावरण हुआ है : अर्थात् मध्ययुगीन परम्पराओं के जड़ भार का, जो आज के इस वैज्ञानिक युग में सर्वथा *असंगत है जहां सर्व सुख-सुविधाओं का आश्वास होते हुए भी सम्पूर्ण मानव* विनाश की भयावह सम्भावना भरपूर है। 'चिदम्बरा' में, साथ ही, इस विश्वव्यापी संकट का समाधान भी सुझाया गया है। समाधान यह कि विज्ञान की शक्ति और उसके परिणाम भौतिकवाद को ऐसे सांस्कृतिक गुणतत्त्वों से युक्त किया जाये जिनसे मानव-मन प्रबुद्ध हो और उसकी भावनाओं में उदारता आये ताकि इस भौतिक स्तर पर रहते हुए भी वह सबके उत्कर्ष एवं समृद्धि के लिए सबके साथ मिलकर उद्योग करे। और *इतना ही नहीं, मनुष्य उन आध्यात्मिक मूल्यों से भी अवगत हो* जो उसके प्रयत्नों को एक नये अर्थबोध से सम्पन्न करेंगे और जिनके फलस्वरूप भीतर-बाहर सब कहीं संगति एवं सामंजस्य का प्रसार होगा।

पंतजी की सब प्रकाशित कृतियां है : (जो दो 1918 में अग्निदुर्घटना मे नष्ट हो गयी वे अतिरिक्त हैं) 30 काव्य कृतियां, 4 पद्यनाट्य कृतियां, 3 निबन्ध संग्रह, 1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास, 1 आत्मकथात्मक संस्मरण कृति, 1 काव्यानुवाद।

पंतजी का सम्पूर्ण साहित्य सुमित्रानन्दन पंत रचनावली के रूप में कई वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है।
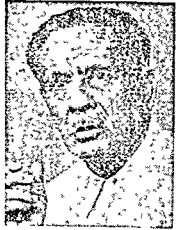
रघुपति सहाय 'फिराक'

ख्यात नाम : फिराक गोरखपुरी
जन्म : 28 अगस्त, 1896
स्मृति शेष : 1983
पुरस्कृत कृति : गुल-ए-नग्मा
भाषा : उर्दू
विधा : नज्में गजलें रूबाइयां
पुरस्कार अवधि : 1950 से 1962
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 29 नवंबर, 1970
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

पांचवां पुरस्कार : 1969

रघुपति सहाय 'फिराक' गोरखपुरी

फिराक गोरखपुरी का जन्म 28 अगस्त, 1896 को गोरखपुर में हुआ था। उनके पिता स्व० श्री गोरखप्रसाद उस समय यहां के बहुत बड़े वकील थे। फिराक जब बच्चे थे तब सबसे सौभाग्य की बात यह हुई कि मात्र स्कूल की शिक्षा के भरोसे न छोड़े जाकर उनके लिए घर पर उपयुक्त शिक्षकों की व्यवस्था की गयी। इन सबने उनकी ओर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया और इस प्रकार फिराक के बचपन का वह प्रभावग्राही काल सभी दिशाओं में सुसमृद्ध हुआ।

अंग्रेजी और हिन्दी के साथ-साथ परिवार के बच्चों को उर्दू भी पढ़ाई जाती थी। उर्दू फिराक के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बनी: उर्दू गद्य की नागरता, सिजलाई और रवानी ने उन्हें सहज रूप से मोहा। घर पर रह-कर पढानेवाले शिक्षकों में से एक शिक्षक नित्य रात को जब सारे काम हो चुकते तब तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का पाठ किया करते। संग-साथ के सब भाई-बहन उस समय सो गये होते, अकेला बालक फिराक बैठा रामकथा सुना करता और उस बाल वय में भी सुनते-सुनते जब-तब उसकी आंखें छलछला आतीं। आये दिन साधु-संन्यासी और गुणी-ज्ञानियों का घर पर समागम रहता। सब बच्चों में एक फिराक ही थे जो उनकी ओर आकृष्ट होते और चुपचाप उनके प्रभाव ग्रहण करते। उनकी प्रकृति ही बड़ी जिज्ञासु और ग्रहणशील थी।

घर से कुछ ही दूर मॉडल स्कूल था जहां और भाइयों के साथ इनका भी प्रवेश कराया गया। पर यह अतिरिक्त व्यवस्था ही थी, प्रमुख देख-रेख घर पर नियुक्त शिक्षकों की थी। उन दिनों की याद करते फिराक सुनाने लगते थे कि उनका बचपन भी कितनी विलक्षणता का रहा। देर गये रात तक वह टक बांधे पड़े रहते: अपार अन्धकार में डुबकते हुए, उसके अनुबूझ

रहस्यों की टोह लेते हुए। चांद और तारों के समूह उन्हें बांध-बांध लेते, और दिन को मायामयी प्रकृति के लाख-लाख द रश-बोल घेरे रहते। और ऐसा कभी न होता कि उनका मन-प्राण जहां-का-तहां खिचकर न रह जाये।

पचासेक वर्ष बीत आये तब अपनी सुपरिचित रचनाएं 'आधी रात', 'परछाइयां', जुगनु', और 'हिण्डोला' उन्होने लिखी। इनमें विशेषकर 'हिण्डोला' में अपने उस काल की छवियां उन्होने दी हैं। ये रचनाए उर्दू के प्रकृति काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रकृति की गुह्यता-पावनता, उसके भाव-सन्देश और मानव अस्तित्व से उसके सजाति-सम्बन्ध को उर्दू काव्य में इतनी स्पष्ट और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति पहले कभी नहीं मिली।

स्कूल की शिक्षा पूरी करके फिराक ने म्योर सेन्ट्रल कॉलेज इलाहाबाद में प्रवेश लिया। उन दिनों कॉलेज कक्षाओं में उर्दू नही पढ़ाई जाती थी। और यह बात फ़िराक के लिए हानि की कम, लाभ की अधिक बनी। उनके ध्यान का केन्द्र तब अंग्रेजी भाषा और साहित्य, इतिहास, न्याय और फारसी का अध्ययन बन गये। कॉलिज काल का यह अध्ययन उनके कवि के निर्माण-विकास में अत्यन्त सहायक और प्रभावक भी प्रमाणित हुआ। 1915 में उन्होने इण्टरमीडियेट परीक्षा पास की और फिर, अस्वस्थता के कारण आये कुछ दिनों के व्यवधान के बाद, बी० ए०। बी० ए० में उन्होंने विश्वविद्यालय-भर में चतुर्थ स्थान प्राप्त करने की कीर्ति अर्जित की।

अभी तक काव्य-रचना फिराक ने नहीं की थी; न ही कुछ वर्ष बाद तक भी की। पर बी० ए० में थे तो गालिब पर अंग्रेजी में एक लेख उन्होंने लिखा था जो 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' में प्रकाशित हुआ। बर्कले के विचार-दर्शन पर भी एक लम्बा लेख लिखा था जिससे उनके दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक, ई० ए० रेडफोर्ड, इतने प्रभावित हुए थे कि फिर कक्षा को प्राय: उसी से अक्षरश: बोल दिया करते थे।

1918 में फिराक के पिताजी का देहावसान हुआ। यह परिवार भर के लिए भारी विपत्ति बना। फिराक बी० ए० कर रहे थे। अचानक समूची गृहस्थी चलाने के उत्तरदायित्व को सामने खड़ा पाया। रोटी कमाने

वाला कोई नही था; घर की सम्पत्ति थी : पर पैसा तो वह न थी। और पढ़ाई जहां की तहा छोड़कर फिराक को अब गोरखपुर रहना पड़ा। नित्य सवेरे से ही ऐसे लोगों के पीछे दौड़-भाग में लग जाते जो उस सम्पत्ति को खरीद सकें। कई बरस इसमें लगे : ऐसे बरस जिनका एक-एक दिन चिन्ता और क्लान्ति बनकर फिराक का ग्रास करता रहा।

और वास्तव मे यही वह काल था जब फिराक ने काव्य-रचना शुरू की। प्रारम्भिक रचनाएं अवश्य थीं वे; पर कोई चिह्न अपरिपक्वता के उनमें न थे। वे विश्व साहित्य और विश्व संस्कृति के अवदान से आभान्वित थीं। फिराक ने विश्व साहित्य का उत्कृष्टतम अभी बहुत-कुछ नहीं पढ़ा था, पर सर वॉल्टर रैले के शब्दों मे उन्होंने "पुस्तकों से कही अधिक पुस्तकों में" पढा था। मन्त्रवत् पढने से अधिक वे सजग होकर गुनते-गाहते हुए पढ़ने मे विश्वास रखते थे। यही काल था जब फिराक की हिन्दू चिन्तन और हिन्दू संस्कृति से अधिक घनिष्ठ संपृक्तता हुई। आगे चलकर तो उनकी यह धारणा हो आयी कि मुसलिम और अंग्रेजी आगमन ने हिन्दू संस्कृति को परिवर्तन-सुधार के नये तत्त्व और संस्कार देकर एक नये भाव-समन्वय और सम्पूर्णता की भूमि पर ला दिया है।

फिराक ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पहले व्याख्याता और फिर प्रवाचक के रूप मे लगातार 18 वर्ष तक अंग्रेजी साहित्य का प्राध्यापन किया। वे 'संवेदित अध्यापन' और 'संवेदित अध्ययन' के आग्रही थे। इसी का व्यवहार में उन्होने पालन किया। उनकी दृष्टि मे सर्जनात्मक लेखन मानसिक कार्य भी था और साथ ही अतिमानसिक भी। अपने विद्यार्थियों को वे जो पढाते उसे उनकी प्राण-चेतना से एकात्म कर देते। पोथी के पन्नों का विषय उनके अध्ययन से सजीव होकर विद्यार्थियो के भीतर को उतरता सीधे शिराओं मे प्रविष्ट होता चलता। साहित्य के विज्ञ समीक्षकों ने कीट्स के काव्य को 'वैषयिक' कहा; फिराक ने अपनी कक्षाओ में उसे सदा 'परा-वैषयिक' बताया। उनके विचार से भौतिक जगत् का सूक्ष्मतम और संपूर्णतम बोध ही आध्यात्मिकता होती है।

प्राध्यापन मे प्रवेश करने के कुछ ही दिनों बाद फिराक ने महाकवि तुलसीदास पर एक लेख लिखा। इसमें उनकी पैनी समीक्षा दृष्टि का द्योतक

एक वक्तव्य आया है कि "शेक्सपीयर अपने साहित्य में जीवन के अनुरूप थे जबकि तुलसीदास जीवन के अनुरूप और जीवनदायी दोनों।" विश्व की अन्य सभी संस्कृतियां अपने-अपने धर्मतत्व और विश्वासों के द्वारा जीवनदायी होने की वात करती है। फिराक की मान्यता है कि यह मात्र छद्म जीवनदायी औषधि ही होती है। हिन्दू संस्कृति अपनी व्यापकता के कारण सहज ही जीवनदायी बन जाती है और यही तो प्रकृति उपासना की चरम सीमारेखा भी है जिसके लिए अन्य 'सच्चे धर्म' ईर्ष्या करें। उर्दू काव्य में पाप के आशय-भाव पर लिखे गये अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध में 'भौतिक' की द्वन्द्वात्मकता पर प्रकाश डालते हुए फिराक ने बताया कि 'भौतिक' ही उदात्तता की स्थिति आने पर 'आध्यात्मिक' बन जाता है। उनके मत से तो सारा पाप और अशुभ दृष्टि-विषयक ही है; अन्तिम सार रूप में अस्तित्व केवल शुभ और शिव का ही रहता है।

1924 से 1940 तक का काव्य लगभग सारा ही प्रेम काव्य है : अत्यन्त परिष्कृत, संगीतमय और मानव-भावित। अवश्य प्रेम काव्य को सौन्दर्य काव्य की सन्निधि में देखना होगा। क्योंकि फिराक के प्रेम-प्रगीतों का विषय ही है : प्रेम-पीड़ा, प्रेम की परीक्षा और शत-शत कष्टभोग, और अन्त में फिर भी दुर्भाग्य, दारुण निराशा। किन्तु इस व्यथा-वेदना का ऐसा उदात्तीकरण फिराक ने किया है कि वही उपचार बन चलता है : तमाम पीड़ा-यन्त्रणा जैसे सुन्दर-पावन और ऐश्वरिक हो उठती है। कष्टभोग का यह रूपान्तरण फिराक से पहले उर्दू काव्य में मानो था ही नहीं।

1940 से 1950 के बीच फिराक के काव्य में एक स्वाभाविक परिवर्तन आता है। वह अब सौन्दर्य के चितेरे हो आते हैं और विशुद्धतम के चिन्तक कवि। नारी का नारीत्व अब एक नया अर्थभाव, एक नया महत्व, ग्रहण कर लेता है।

नारी अब, जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक, सौन्दर्य की विभिन्न अवस्थाओं का द्योतन करती है। जैसा पितामह भीष्म ने शान्तिपर्व में कहा। उसी का तनया-रूप होता है, उसी का भगिनी और मातृ रूप; वही देवत्व का वास है, वही सर्वग्राही कामाग्नि के केन्द्र का। फिराक की कितनी ही रचनाओं में इस भाव-दर्शन को अभिव्यक्ति मिली है।

किन्तु फिराक की काव्य-प्रतिभा नारी और प्रेम की विपय-वस्तु मे ही घिर-बंधकर नही रह गयी। मनुष्य के आर्थिक स्तर पर उत्पीडन से लेकर उसकी जीवन व्यवस्था के विराट् एवं सुखी-स्वरूप की परिकल्पना तक के विभिन्न विषयों को 'रूप' के परवर्ती काव्य में अभिव्यक्ति मिली है। 'धरती की करवट', 'दास्ताने आदम', 'इन्कलावे चीन' कुछ उदाहरण हैं।

पर बाद के दो-तीन दशकों में फिराक फिर प्रेम-काव्य की सर्जना की ओर लौट आये। उनकी इस काल की रचनाओं की विशिष्टता है: एक अपूर्व मृदुता और परिपक्वता, एक सन्तुलन और अन्तर्विस्तार और, जिसे विशेषकर उल्लेखनीय मानना होगा, भाषा और शैलीगत अद्भुत सरलता। छोटी-से-छोटी बात को भी फिराक ने अर्थ और भाव की गरिमा देकर बहुत बडा और ऊंचा बना दिया है। इन रचनाओं में उन्होंने जीवन के यथार्थ सत्य का उद्घाटन किया है, और जैसे बिल्कुल डबडबायी आंखो। एक जगह वह कहते है—

"मैं जब काव्य-रचना की चिन्ता में होता हूं तब विचार-समूह मेरे आसपास भरी आंखों तिरने लग जाते है।"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक पद से फिराक 1948 मे सेवा-निवृत्त हुए। पर कुछ ही दिन वाद विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा फिर वही वे रिसर्च प्रोफेसर नियुक्त कर दिये गये। यह कार्य-दायित्व 1965 तक चला। इस बीच वे साहित्य अकादमी पुरस्कार, उत्तर प्रदेश राजकीय पुरस्कार और नेहरू पुरस्कार प्राप्त कर चुके थे। 'पद्म-भूपण' की उपाधि और साहित्य अकादमी की फैलोशिप भी उन्हें मिल चुकी थी।

'गुले-नग्मा' मे फिराक की चुनी-चुनी रचनाएं सकलित हैं। देखने मे सीधी-सादी इसकी कितनी ही रचनाएं हैं जो भावुक पाठक को विचार-चिन्तन की गहराइयों मे बरबस उतार देती है। ये रचनाएं इतने विविध विषयों की है, ऐसी इन्द्रधनुषी उनकी शैली है और उनमे से हरेक सत्य और यथार्थ की ध्वनि से इस प्रकार अनुगुंजित है कि यह संकलन सहज ही इस युग का एक जीता-जागता मानवीय दस्तावेज बन उठा है। फिराक के काव्य की विशिष्टता को और भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में उनके योगदान को विवेकी समीक्षक बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके हैं।

फिराक को यदि कुछ शिकायत थी तो केवल एक : कि अपने देश-वासियों से उन्हे कोई शिकायत नही रही। ख्याति और प्रसिद्धि, सराहना और अभिनन्दन—यह सब उन्हें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुआ, यद्यपि वह जानते और मानते थे कि उनकी अपनी सम्पूर्णता मे यह सब न कुछ जोड़ सकता है न इनका अभाव कुछ घटा ही सकेगा। वे श्री रामकृष्ण परमहस को इस युग की महानतम विभूति मानते थे, किन्तु जिस प्रकार और जितनी व्यापकता के साथ श्रद्धा और भक्ति का उनके प्रति समर्पण किया गया, उसे बचाया जा सकता तो फिराक का मत है कि अच्छा होता। अनामा और अप्रकाशित रहकर वे कहीं अधिक प्रभावशाली और सार्थक सिद्ध होते। आज तक किसी ने तो चांद-सूरज या हवा-पानी का कोई जीवनवृत्त लिखा नही : पर धरती पर किसके लिए इनकी आवश्यकता अनिवार्य नहीं रहती। महानता तो उसी प्रकार अवैयक्तिक होनी चाहिए जैसे प्राकृतिक शक्तियां होती हैं।

एक बार तॉल्सतॉय की महान् कृति 'वॉर एण्ड पीस' खत्म करके फिराक उठे ही थे कि उनके कुछ साहित्यिक बन्धु आ पहुचे और चर्चा सहज ही उस कृति पर आ ठहरी। जो मन्तव्य उस समय फिराक ने व्यक्त किया वह उनकी समीक्षात्मक कुशाग्रता का द्योतक है। कहा उन्होंने कि इस महान् उपन्यास में एक भी चरित्र ऐसा जीवन्त और इतना वास्तविक नही है जैसे डिकेन्स के या स्कॉट के होते है या जॉर्ज इलियट का साइलस मारनर ही है। 'वॉर एण्ड पीस' के चरित्रों मे उस गूढ़ रहस्यमय अन्तर्मुखता का सर्वथा अभाव है जिसके बिना चरित्र मे प्राणवत्ता आ ही नही पाती।

यह भी प्रसंगत: उन्होने कहा कि आचारगत नैतिकता से ग्रस्त रहना स्वयं अपने मे बहुत बडी अनैतिकता है; क्योंकि धरती पर स्त्री और पुरुष जनमते ही इसलिए है कि उन्हे प्यार किया जाये; इसलिए नही कि उन्हे कोई नैतिकता की तुला पर तौला करे। जिस भाव-चेतना ने 'वॉर एण्ड पीस' का सृजन कराया वह 'शकुन्तला' या 'महाभारत' की कल्पना भी न कर पायेगी। उद्देश्यपूर्णता सर्जनात्मक लेखन मे सदा आत्मघातक सिद्ध होगी।

1960 में 'गुले-नग्मा' प्रकाशित हुई, उसके बाद की कितनी ही और

फिराक की रचनाएं है। 'गुले-नग्मा' से और इन सबमें से चुनी-चुनी रचनाएं लेकर एक नया सकलन प्रकाशित किया गया—'बज्मे जिन्दगी: रंगे शायरी'। इस संकलन की रचनाए, फिराक के सृजन मे एक विशेष स्थान रखती है। ये रचनाए शेक्सपीयर की उस उक्ति के सत्य को रेखांकित करती है कि "सुख और दुख सब निरर्थक है, सार्थक कुछ है तो केवल प्रौढ़ता-परिपक्वता।" फिराक शैली और 'अन्दाज' के उस्ताद है, कुशल कलाकार। उनकी कला एकसुरी नही, भाव और रूप-भंगिमाओं की समूची सरगम उनके काव्य मे जीवन्त हुई है।

फिराक को उनके कृतित्व से ऊंचा और बडा माना गया है। उनका विश्वास इसमें नही था कि अन्तकाल तक काठी कसी रहे, उनका विश्वास 'टेम्पेस्ट' का प्रॉस्पेरो होने मे था जो अपनी जादू की छड़ी एक दिन आप तोड फेंकता है। क्योकि उनका सिद्धान्त था कि सार्थक कर्म वही हो सकता है जो कर्म करने की आवश्यकता से विमुक्त कर दे। वे तो महान् काव्य को एक ऐसी उच्च आध्यात्मिक अवस्था के रूप में देखते-मानते थे जहां कुछ भी करना या कहना नही होता, जहां देह स्थिर हुई सोयी रहती है और देही अपने भीतर जाग्रत रहता है।

नज्मों, रुबाइयों और गजलों के एक दर्जन संग्रह, दो समीक्षात्मक ग्रन्थ, एक आत्मकथात्मक, एक अश्आर, एक पत्रों का पुलिन्दा, सात पुस्तकें अंग्रेजी में, गीतांजलि और टैगोर की एक सौ एक कविताओं का अनुवाद, ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व फिराक का यह साहित्य पाठकों तक पहुंच चुका था।

विश्वनाथ सत्यनारायण

जन्म : 6 अक्तूबर, 1895
स्मृति शेष : 1976
पुरस्कृत कृति : रामायण कल्पवृक्षमु
भाषा : तेलुगु
विधा : महाकाव्य
पुरस्कार अवधि : 1955 से 1963
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 16 नवंबर, 1971
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

छठवां पुरस्कार : 1970

विश्वनाथ सत्यनारायण

विश्वनाथ सत्यनारायण का जन्म एक सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में 6 अक्तूबर, 1895 को आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा जिले के नन्दपूर गांव मे हुआ था। उनके पिता श्री शोभनाद्रि सम्मान्य व्यक्तियों में से थे। गांव में एक शिव मन्दिर भी उन्होंने बनवाया था। उनकी ईश्वर-भक्ति और पारम्परिक आदर्शों के प्रति गौरव भावना ने बालक विश्वनाथ को भी प्रभावित किया था। विश्वनाथ ने 12 वर्ष की अवस्था मे ही तेलुगु साहित्य पर एक अधिकार जैसा प्राप्त कर लिया था, और तेलुगु और संस्कृत के प्रमुख कवियों का गम्भीर अध्ययन करके उनसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए वे तेलुगु में छोटी-मोटी कविताओं की रचना तक करने लगे थे।

पिता ने पारिवारिक सम्पत्ति को क्रमशः क्षीण होते देखा तो पुत्र को गाव से 40 मील दूर मछलीपट्टणम् के अग्रेजी स्कूल में प्रवेश दिलाया। उन्होने आशा यह की थी कि पुत्र वकील या कुछ और बनेगा और परिवार की आय-अर्जना मे सहारा होगा। किन्तु तरुण छात्र विश्वनाथ के लिए स्कूल भर मे आकर्षण का केन्द्र हुए तेलुगु अध्यापक श्री वेंकट शास्त्री जो उन दिनों सैकड़ों तेलुगु युवा कवियों के प्रेरणा स्रोत थे। शास्त्री जी जैसे कविश्रेष्ठ का शिष्य होना जिस प्रकार विश्वनाथ के लिए सौभाग्य की बात हुई उसी प्रकार शिष्य के रूप मे इन्हें पाना गुरु के लिए गौरव की बात। उनके प्रेरणापूर्ण मार्गदर्शन में विश्वनाथ ने तेलुगु काव्य मे अपनी नीवें ही नही सुदृढ की, धीरे-धीरे अपनी मनोनीत दिशा मे एक स्थान और ख्याति भी अर्जित की। 1915 मे उन्होंने मैट्रिक किया, फिर 1919 मे ग्रेजुएट हुए। असहयोग आन्दोलन छिडने पर युवक विश्वनाथ अपने को उससे अलग नही रख सके, पर जेल जाने से अवश्य किसी प्रकार बच गये। उनके व्यावसायिक जीवन का आरम्भ मछलीपट्टणम् के नेशनल कॉलेज से हुआ। 1920 से 1926 तक वे यहा तेलुगु अध्यापक रहे। इस बीच एक प्रमुख

तेलुगु कवि के रूप में यह प्रख्यात हो चले थे।

अपने लेखन के प्रारम्भिक काल मे भी इन्होंने प्रत्येक साहित्यिक विधा को हाथ में लिया। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, गाथागीत : क्या उन्होने नहीं लिखा ! इसी उन्मेष काल में उनका 'एकवीरा' नामक उपन्यास भी निकला जिसे परवर्ती कृति 'वेयिपंगलु' (सहस्रफण) को छोड़ उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है।

1927 से उन्हें फिर आजीविका के लिए इधर-उधर देखना-खोजना पड़ा। मछलीपट्टणम् और गुण्टूर के दो डिग्री कॉलेजो में वे अध्यापक रहे। 1933 मे उनकी पत्नी का भी देहावसान हुआ और अधिकारियों से मतभेद हो जाने के कारण गुण्टूर कॉलेज में प्राध्यापक का स्थान भी गया। 6 वर्ष तक वे बिना किसी आजीविका के रहे। यही सम्भवतः उनके जीवन का सर्वोत्कृष्ट काल था जब अपेक्षित स्थिति पाकर उनका कवि सम्राट् रूप प्रकट हुआ। इन्हीं दिनों उनका श्रेष्ठतम उपन्यास 'वेयिपंगलु' लिखा गया जिस पर उन्हे आन्ध्र विश्वविद्यालय का पुरस्कार मिला, और इन्ही दिनों 'रामायण कल्पवृक्षमु' की रचना भी प्रारम्भ हुई।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'रामायण कल्पवृक्षमु' की रचना उन्होंने प्रारम्भ की तब उनकी जन्म-कुण्डली मे एकान्त उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित बृहस्पति की दशा प्रवेश कर रही थी और वाल्मीकि के अनुसार राम के जन्म के समय भी बृहस्पति इसी प्रकार उच्चस्थ था। कविसम्राट् इस महाकाव्य के रचनाकाल में भी बड़ी-बड़ी सभाओं में मधुर कण्ठ से इसका पाठ करते हुए एक-एक कथा उपाख्यान का मर्म समझाया करते। इस प्रकार वे उन दिनों तेलुगु जनता के लिए एक चलता-फिरता विश्वकोश बने हुए थे।

तब तक उनके कई खण्डकाव्य विद्वानों और जनसाधारण मे समादर पा चुके थे। उनकी दो काव्यकृतियों 'आंध्र पौरुषम' और 'आंध्र प्रशस्ति' ने उज्ज्वल अतीत के प्रेरणापूर्ण वर्णनों द्वारा देश के युवकों को विशेष उद्बुद्ध किया। उनकी 'शृंगारवीथि' में राधा और कृष्ण के प्रेम का सुन्दर चित्रण हुआ है और 'ऋतुसंहारमु' मे आन्ध्र प्रदेश की ऋतुओं का। 'शशिदूतम्' जैसे 'मेघदूत' के अनुकरण पर लिखी गयी है और सहज ही कविकुलगुरु का

स्मरण दिलाती है। पत्नी का देहावसान होने पर कविसम्राट् ने 'वरलक्ष्मी
त्रिशति' शीर्षक शोककाव्य लिखा। कुछ पहले कुल-देवता विश्वेश्वर की
स्तुति में उन्होंने 'मा स्वामी' कृति की रचना की थी। 'किन्नेरसानि पाटलु'
और 'कोकिलम्मा पेण्डिल' दो सुप्रसिद्ध गीतकाव्य हैं उनके। इन सब
रचनाओं ने विश्वनाथ को न केवल नन्नय, पेद्दना और श्रीनाथ जैसे प्राचीन
कवियों की परम्परा से जोड़ दिया, बल्कि तेलुगु कविता की अधुनातन
प्रवृत्तियों के साथ भी सम्पृक्त किया।

1934 मे विश्वनाथ सत्यनारायण ने 'रामायण कल्पवृक्षमु' की रचना
प्रारम्भ की तब अपने को उन्होंने उसी में परिसीमित नही कर लिया था।
यह तो जैसे एक कल्पवृक्ष था जिसकी सुखद-सुशान्त छाया तले रहकर
अपनी विहग-दृष्टि वे तेलुगु साहित्य की विविध विधाओं पर डाल रहे थे।
उनके चारों नाटक 'अनारकली', 'नर्तनशाला', 'वेनराजू' और 'त्रिशूलमु'
1935 से पहले आ चुके थे; और वे आज भी एक उच्चकोटि के नाटककार
के रूप मे गिने-माने जाते है। तेलुगु साहित्य की गतिविधियों के चित्रण में
लिखे गये उनके दस नाट्य रूपक तेलुगु भाषियों के कानों मे बराबर गूंजा
करते हैं।

तेलुगु उपन्यास-कथा साहित्य को उनकी जो देन है उसे देखने जायें
तो निश्चय ही यह मानना पड़ेगा कि कविसम्राट् कवि-नाटककार या साहित्य-
समीक्षक से पहले उपन्यासकार थे। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक
और व्यंग्यात्मक सभी प्रकार के विषयों को लेकर लिखे गये पांच दर्जन से
अधिक उपन्यास इसका प्रमाण है। उनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'वेयिपंगलु' मे
तो समस्त ज्ञातव्य ज्ञान का सार-संक्षेप समाया है। हिन्दी मे श्री पी० वी०
नरसिंह राव कृत इसका अनुवाद 'सहस्रफण' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।
इसी तरह 'विष्णु शर्मा की अंग्रेजी पढाई' भी हिंदी में हाल मे आया है।
'एकवीरा' का तो फिल्मीकरण भी हो चुका है। विचित्र बात यह कि उनके
उपन्यास जहां एक ओर आज की क्लैसिक कृतियो मे स्थान पाते है वहां
दूसरी ओर जनसाधारण की सुविधा के लिए पॉकेट बुक सीरीज मे भी।

विश्वनाथ जैसे सक्षम कवि-उपन्यासकार थे वैसे ही दक्ष और कृतविद्य
साहित्य-समीक्षक भी। कालिदास, नन्नय, अल्लसानि, पेद्दना और नाचन

सोमना पर उनकी जो समीक्षाएं आयी हैं वे तेलुगु साहित्य के अध्येताओं को एक नया दृष्टिकोण प्रदान करती हैं। सहज, आत्मनिरीक्षण के भाव मे कविसम्राट् ने एक बार कहा था : "कुछ लोगों का मत है कि मैं कवि नही विद्वान हूं। मैं जानता हूं कि विद्वान मैं नहीं हूं। फलत: मैं न कवि हू न विद्वान।" और सत्य यह कि वे दोनों थे और उससे भी अधिक !

कहानियां उन्होंने बहुत कम लिखी हैं। पर जो लिखी हैं उन पर इस प्रतिभा सृजेता की छाप अंकित है। कथा कहने की उनकी एक अपनी शैली थी जिसे वाल्मीकि और नन्नय से उत्तराधिकार मे उन्होंने प्राप्त किया था। उनकी सारी कहानियां यथार्थवादी और सुखद-प्रीतिकर भाववाली होती थीं। 'इदेमि सम्बन्धमु' उनके कहानी-शिल्प का एक सुन्दर उदाहरण है। वे जैसी सहजता और आत्मविश्वास के साथ तेलुगु मे लिखते थे वैसे ही संस्कृत में भी। उनकी 'शिवपंचशती' और 'देवीत्रिशती' सस्कृत विज्ञवर्ग में बड़ी लोकप्रिय है। संस्कृत में उनके कई नाटक भी है।

पर शान्त एकान्त में बैठकर लिखना एक बात होती है और जनसभा में खड़े होकर अपने विचार सबके मन तक पहुंचाना बिल्कुल और। यह आवश्यक नही कि कोई वर्चस्वी लेखक ओजस्वी वक्ता भी हो। विश्वनाथ सत्यनारायण में दोनों गुणों का समन्वय मिलता है। इस प्रकार कवि-सम्राट् विश्वनाथ सत्यनारायण में अनेक और विभिन्न गुणों का समावेश हुआ मिलता है।

उनके व्यक्तिगत स्वभाव में भी ऐसी ही बात थी। कभी-कभी वह बहुत रूखे और चिड़चिड़े हो उठते थे, पर मन और भाव के बड़े भद्र और नर्मल थे। जिस सरलता से वह किसी को भी मित्र बना लेते थे उसी तरह अपने विरोधी भी खड़े करते थे। उनके मित्र उनकी श्लाघा करते नहीं थकते, उन्हें ब्राह्मी का साक्षात् अवतार तक मानते थे; तो उनके विरोधी-गण, जिनमें अनेक अच्छे-अच्छे लेखक भी थे, बिना झिझक उन्हें पुराणपंथी और समय और समाज की राह का रोड़ा जैसे नाम देते थे। वे देखने में र्वी, तिक्तकण्ठ और अहम्मन्य लगते थे, पर भीतर से बड़े विनम्र थे। देह से बले पर आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न थे, और वाणी से कठोर पर आचरण उदार। 1919 से 1945 तक आर्थिक अभावों की पीड़ा उन्होंने झेली,

पर फिर अपने लेखन और काव्यपाठ से जो धन कमाया उसे खुले हाथों उन्हें दिया जो कष्ट में थे। उनका जीवन दो सत्यों के लिए समर्पित था: एक कला और दूसरा भगवान्।

यश और ख्याति की लालसा उन्हें कभी नहीं रही; पर कौन-सा मान-सम्मान स्वयं गौरवान्वित होने के लिए उनके निकट दौड़ा नहीं आया। अस्सी वर्ष पूर्व तेलुगु ने उन्हें अपना 'कविसम्राट्' घोषित करके अभिनन्दित किया था। विश्वविद्यालयों ने फिर उन्हें कलाप्रपूर्ण और डी० लिट् की उपाधियों से विभूषित किया। साहित्य अकादमी द्वारा वे अपनी काव्यकृति 'मध्यावकरलु' के लिए पुरस्कृत हुए; बाद को अकादमी के फेलो भी बने। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की। 1959 में विधान परिषद् के सदस्य नामित किये गये, पर उन्होंने करीमनगर कॉलेज का प्रिन्सिपल बनना चुना। दो वर्ष बाद सेवानिवृत्त होकर वे विजयवाड़ा आ गये और 'कल्पवृक्षमु' की रचना पूरी करके यहीं फिर उसकी स्निग्ध छाया में रहने लगे।

कविसम्राट् की पुरस्कार-विजेता कृति 'रामायण कल्पवृक्षमु' उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा की पराकाष्ठा की द्योतक है। इसमें छह काण्डों में राम कथा का वर्णन किया गया है। प्रत्येक काण्ड के पांच-पांच खण्ड हैं। इस प्रकार पूरी कथावस्तु को कवि ने तीस खण्डों में विभाजित किया है और प्रत्येक खण्ड अपने में एक सम्पूर्ण रचना है। यों 'कल्पवृक्षमु' को कला एक सुन्दर-सुकुमार सूत्र में पिरोयी हुई तीस स्वतन्त्र रचनाओं की माला रूप में भी देखा जा सकता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में लगभग तेरह हजार छन्द और इनमें सब मिलाकर पचास हजार से अधिक पंक्तियां। प्रत्यक्ष है f यह कृति वाल्मीकि रामायण जैसी ही बृहदाकार है। वस्तुतः आकार ही नहीं, काव्यगत श्रेष्ठता, चरित्र-चित्रण, प्रसंगोद्भावना, भावावेगों सन्तुलन, वैचारिक पावनता और मानवीय भावनाओं के उदात्तीकरण दृष्टि से भी यह उसके समतुल्य ठहरती है।

मूल कथा वाल्मीकि से ली गयी है पर कविसम्राट् ने ऐसे मौलिक में उसे प्रस्तुत किया है कि समूचा कथानक जैसे एक नया ओज और नव भाव-प्रभाव ग्रहण कर उठा है। उदाहरण के लिए: वाल्मीकि में बाल

लीलाओं का विस्तृत वर्णन नही मिलता, कविसम्राट् की कल्पना शक्ति इतनी चित्रात्मक हो गयी है कि कथावस्तु मे उनकी गहरी पैठ प्रकट हो उठती है। ऐसा ही सीता और राम के विवाह-प्रकरण का भी एक सुन्दर रेखाचित्र उभर आया है। सुन्दरकाण्ड के विषय मे मान्यता है कि यह वाल्मीकि का सर्वोत्तम काण्ड है और इसमे कुछ भी ऐसा नही जो सचमुच सुन्दर न हो। कविसम्राट् ने इस प्रकरण में एक अनूठे सौन्दर्य भाव की परिकल्पना की है। हनुमान सध्या के समय लका पहुँचते हैं और अगली संध्या को लौटते है। बीच की एक दिन और एक रात की अवधि को कल्पवृक्षकार ने पाच भागों में विभाजित किया है—पूर्वरात्रि, पररात्रि, उषा, दिवा, संध्या। यह विश्लेषण इस काण्ड को देवी उपासना का उज्ज्वल रूप प्रदान कर देता है और साथ ही प्राकृतिक सुषमा की इन्द्रधनुषी छटा के प्रति कवि के अन्तर्लोचन की जागरूकता को व्यंजित करता है।

स्त्री-पात्रों के चित्रण में भी कवि की मौलिकता बड़े भव्य रूप में प्रकट होती है। तीन प्रमुख स्त्री-पात्र है—अहल्या, अनसूया, शबरी। 'कल्पवृक्षमु' में तीनो के लिए एक-एक स्वतन्त्र खण्ड रखा गया है। सीता-अनसूया मिलन और सीता का अनसूया को अपने विवाह की सारी बात बताना विशेष उल्लेखनीय प्रसग हैं। विश्वनाथ की कैकेयी भी वाल्मीकि की कैकेयी से भिन्न है। यहां अपयश बटोरते हुए भी कैकेयी की कल्पना राम की कार्यसाधिका के रूप मे की गयी है; वह स्वय श्रीदेवी है। शान्ता, कुब्जा, और त्रिजटा जैसे गौण स्त्री-पात्र भी कलाप्रपूर्ण विश्वनाथ के शिल्पी हाथों में नयी दीप्ति पाकर उभर उठे है।

काव्य कला की दृष्टि से देखने पर इस महाकाव्य मे अनेक विशिष्टताओं का दर्शन होता है। जैसे : वर्णन शैलियों की विविधता, अलंकार और लाक्षणिक प्रयोगों की यथावश्यक सयोजना, प्रसंगानुकूल शब्दावली, विचार-भवों के अनुरूप छन्द-व्यवस्था। संक्षेप में, 'रामायण कल्पवृक्षमु' उन सभी साहित्यिक गुणों का आगार है जो उत्तराधिकार में इसे प्राप्त हुए और जो रूप और आत्मा दोनों में नितान्त भारतीय है। ऐसी विलक्षण कृतियो की कल्पना कभी विरले ही कोई महान् प्रतिभा

कर पाती है, और आश्चर्य की बात नहीं कि उक्त काव्यकृति की रचना में लगभग तीन दशक लगे।

ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व रामायण कल्पवृक्षमु के अतिरिक्त कविसम्राट् ने बीस काव्यकृतियां, तीन गीति काव्य, पंद्रह नाटक, सात समालोचनात्मक ग्रंथ, साठ उपन्यास, एक कहानी-संग्रह का सृजन कर तेलुगु साहित्य को और चार काव्य व दो नाटक लिखकर संस्कृत साहित्य को भी समृद्ध किया था।

विष्णु दे

जन्म : 1909
स्मृति शेष : 1983
पुरस्कृत कृति : स्मृति सत्ता भविष्यत्
भाषा : बांग्ला
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1960 से 1964
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 10 फरवरी, 1973
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

सातवां पुरस्कार : 1971

विष्णु दे

विष्णु दे कॉलेज स्क्वायर कलकत्ता के सुप्रसिद्ध दे-विश्वास परिवार में ऐटॉर्नी जनरल अविनाशचन्द्र दे के यहां जनमे थे और उनकी पांचवीं सन्तान थे। उनका लालन-पालन एक ऐसे सम्भ्रान्त परिवार मे हुआ था जहां अनुशासन और मर्यादाओं को पूरा महत्त्व दिया जाता था और परिवार के प्रत्येक सदस्य का एक-न-एक उत्तरदायित्व भी रहता था जिसके लिए उसे पूरा सम्मान प्राप्त होता था।

बचपन से ही बड़े सुकुमार होने के कारण उन्हें अपने चाचा-चाची और भाई-बहनों का बहुत-बहुत स्नेह-दुलार मिला। घर-परिवार मे सभी इनके दयालु और सवेदनशील स्वभाव को समझते थे और इसलिए इनके प्रति अत्यन्त सहृदयतापूर्ण व्यवहार रखते थे। सबके ऐसे भाव और विश्वास के साथ-साथ इन्हे मिली एक विशाल अट्टालिका की शान्ति और उन्मुक्तता, जहां चारों तरफ बरामदे थे, नीचे की मंजिल में आंगन और ऊपर बच्चों के खेलने के लिए बड़ी-सी छत थी। इतना ही नहीं, मन होते ही निकालकर पढने के लिए बांग्ला और अंग्रेजी पुस्तकों और पत्रिकाओं से भरी अल-मारियां अलग थीं।

यह था परिवेश जिसमे विष्णु दे दस वर्ष की आयु तक रहे और विकसित हुए। पिताश्री अत्यन्त गरिमा-सम्पन्न और सहानुभूतिशील स्वभाव के थे। विष्णु दे की अभिरुचियों और सवेदनों के अपना सहज दिशा-भाव ग्रहण करने मे वे बहुत सहायक हुए। स्कूल में भी उन्हें सबसे सहायता तो मिली ही, अत्यन्त गम्भीरता-भरा व्यवहार भी मिला। पण्डित दक्षिणानारायण शास्त्री जैसे विद्वान् तक इनके साथ ऐसे विचार-विवेचना किया करते थे जैसे यह वयस्क हो, अपरिपक्व तरुण नहीं।

कवि दे उस हार्दिकतापूर्ण स्नेह और आशंसा भाव का बड़े चाव के

साथ स्मरण करते थे जो उन्हें सेण्ट पॉल कॉलेज के दिनों से रेवरेण्ड सी० सी० मिल्फर्ड, प्रो० एच० एच० कार्बट्री और प्रिन्सिपल ब्रिज से मिला। क्रिस्टोफर ऐक्रॉएड का प्रभाव तो उन पर असाधारण ही रहा होगा, क्योंकि तरुण विष्णु दे को इन्होंने ही आधुनिक इतिहास के विराट् विश्व और मार्क्सवाद की रहस्यात्मकता से परिचित कराया था। इन्होंने ही उनमें युरोपीय क्लैसिकी संगीत के प्रति अनुराग भी जमाया था।

1932 में विष्णु दे को सेण्ट पॉल कॉलेज मे अंग्रेजी मे स्वर्णपदक मिला। वे जब एम० ए० मे आये तो उन्होंने स्वभावत: एलिजाबेथी युग और शेक्सपियरी साहित्य के जाने-माने विद्वान् प्रो० प्रफुल्लचन्द्र घोष का ध्यान आकृष्ट किया। पर यह निर्विवाद है कि उनके अध्यापकों में प्रो० रवीन्द्रनारायण घोष ही ऐसे व्यक्ति थे जिनसे साहित्य को समझने और परखने की क्षमता को विकसित करने मे उन्हे विशेष सहायता मिली। प्रो० घोष और विष्णु दे के स्वभावों में एक अद्भुत सामंजस्य था। उनके आगे ये अपने साहित्यिक अध्ययन और प्रयोगो की बात मुक्त मन से रख दिया करते थे।

विष्णु दे ने अंग्रेजी भाषा और साहित्य मे 1934 मे एम० ए० किया और उसी वर्ष अपनी सहपाठिनी प्रणति रॉय चौधरी के साथ विवाह भी। उनका प्राध्यापकीय जीवन कलकत्ते के रिपन कॉलेज से 1935 में प्रारम्भ हुआ; 1944 में वे प्रेसिडेन्सी कॉलेज मे आ गये। 1969 में उन्होंने पश्चिम बंग सरकार के शिक्षा विभाग से अवकाश ग्रहण किया। उन दिनों वे मौलाना आजाद कॉलेज कलकत्ता मे अंग्रेजी के प्राध्यापक थे।

1942 के फासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन के संगठन मे विष्णु दे का प्रमुख हाथ था। यही वह समय था जब वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा आरम्भ किये गये भारतीय जननाटक आन्दोलन के भी सक्रिय समर्थक बने और कलकत्ते में नयी कला-प्रवृत्तियो के प्रवर्तन एवं उनकी व्याख्या में भी बहुत क्रियाशील रहे। कला-समीक्षक के रूप में उन्होने रवीन्द्रनाथ और यामिनी रॉय की कला-कृतियों के समझे और सराहे जाने की दिशा में विशेष योगदान किया। विष्णु दे का जीवन घटनापूर्ण तो न था, फिर भी सदा गहन और व्यापक अध्ययन, स्पष्ट चिन्तन, देश-विदेश की घटनाओं

के पर्यवेक्षण, और जनसाधारण के संघर्ष एवं उनकी उपलब्धियों के लिए सहज स्वागत का भाव आदि कुछ ऐसे विशेष गुण है जो बचपन से ही उनके कवि-चरित्र का निर्माण करते आये थे।

टैगोर के बाद वास्तव मे विष्णु दे ही बांग्ला के सबसे बड़े कवि हैं। इन्हे छोड़ दूसरा कोई कवि नही है जो मानव की समग्रता और संसिद्धि की परिकल्पना के प्रति इतना दृढ विश्वास दिला सका हो, कोई नही है जो सम्पूर्ण मानव की सम्भावनाओ से सम्बन्धित आधुनिक चेतना को इससे अधिक प्रभावपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सका हो। सामाजिक लक्ष्य की दिशा मे अद्यावधि अनुपलब्ध अनुभव और घुवन मे उलझे साहस और कायरता, सिद्धान्तानुयायिता और विरोध, ज्ञानागम और उसके आयातित मूलहीन आदेश के हमारे आधुनिक इतिहास के संकटकाल में विष्णु दे ने सत्य के प्रत्यक्षीकरण का कार्य सम्पन्न किया है जो अर्थपूर्ण भी है और आदर्श भी, और जो उनकी विलक्षण कविता के माध्यम से पूर्ण सत्यनिष्ठा के साथ प्रकट हुआ है।

विष्णु दे ने अपनी किशोर-कालीन कविताओ तक मे उन अनुभूतियो को एक स्पष्ट और निश्चित रूप मे अभिव्यक्ति देते सकोच नही किया जिनका सम्बन्ध मानव के एक सभ्य जीवन जी सकने के लिए अपेक्षित परिस्थितियो की खोज से था। उनके लिए कुण्ठा की तीव्रता, निपट एकाकीपन की पीडा आदि विषय, जो आधुनिक बांग्ला कवियों को निरपवाद रूप से प्रिय थे, किसी सकीर्ण वैयक्तिक सूत्र का रूप कभी नही ले सके। और ऐसा नही था कि यह उनकी किसी नैतिक शिथिलता के कारण हुआ, न ही ऐसी बात थी कि यह युवा कवि निर्वैयक्तिक प्रकार के किसी परिपक्व विचार-दर्शन पर पहुंच चुका हो। उनका शक्ति-स्रोत तो उस अकूत भण्डार मे निहित था जो विशाल और ओजस्वी था और तरुण संवेदनाओ से भरा पूरा था।

यही बात थी कि विष्णु दे की सबसे पहली दो काव्य-कृतियों, 'उर्वशी ओ आर्टिमिस' (1928-33) और 'चोराबालि'(1936-37) मे हम एक ऐसे कवि-ससार से परिचित होते हैं जो त्रासद, घोर व्यथा से पीड़ित और विरोधभाव से स्पन्दित है, पर साथ ही जो तरुण ज्ञान और बोध एवं

असीम क्षमतायुक्त मन की स्वस्थता से भी ओतप्रोत है।

विष्णु दे के काव्य की शैली और रूप में सौन्दर्यबोध की अनन्तरता का विशेष गुण प्रारम्भ से ही रहा है जो उन अन्तःस्पर्शी अनुभूतियों और अछूते अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित थी जिन्हें वे समझना और व्यक्त करना चाहते थे। इस तरुण कवि को औपनिवेशिक शासन के अधीन देश के विकृत और अधूरे नवजागरण के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक विरोधाभास का सौन्दर्यात्मक प्रतिरूप देखना पड़ा था। सामने टैगोर की भव्य ऊंचाइयां थीं, फिर भी हमारे मध्यवर्ग की चेतना का भाव और विस्तार था भावनाओं-संवेदनाओं के सीधे स्पर्श से शून्य छद्म बौद्धिक कल्पनाओं के दायरे में परिसीमित ही। उस समूचे परिवेश में विष्णु दे की कविता एक चुनौती बनकर सामने आयी।

यही उस कविता की वास्तव में विशेषता भी थी जो विष्णु दे की बारीकी के साथ तराशी हुई शब्द-योजना, सतर्क आलंकारिक मितव्ययिता, बोलचाल के मुहावरों के उपयोग, और अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने में सक्षम बिम्बों-चित्रों पर प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक अधिकार के द्वारा उद्घाटित हुई। विष्णु दे ने तो जैसे हमारी मध्यवर्गीय संस्कृति की सारहीन सीमाओं से परे व्यापक परम्परा के प्राणमूल तक पहुंचने का व्रत ले रखा था और यही दृष्टि-भावना उनके विकास को निरन्तर शक्ति और ओज देती आयी है। उनकी इस व्यापक परम्परा की खोज में इलियट के प्रभाव की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विष्णु दे को खोज थी अतीत की उस चेतना की जो गतप्राण नहीं, सत्य और जीवन्त है और विद्यमान है टैगोर के भव्य संश्लेषण की उन ऊंचाइयों में ही नहीं बल्कि इंग्लैंड द्वारा ढहाई हुई आपदा से पूर्व की हमारी अपनी लोक-कला और साहित्य में।

विष्णु दे के कवि-विकास के दूसरे दशक में आयी काव्य-कृतियां, 'पूर्वलेख' (1936-41), 'सात भाई चम्पा' (1941-44), और 'सन्दीपेर चर' (1943-47), देश-विदेश की प्रमुख घटनाओं के प्रति उनके कवि मानस की प्रबुद्ध प्रतिक्रिया को व्यक्त करती हैं। इनके अन्तर्गत हमारा स्वतन्त्रता-संघर्ष, फासिज्म का अभिशाप और विश्वभर की प्रगतिशील शक्तियों द्वारा उसका प्रतिरोध, बंगाल का भयानक दुर्भिक्ष, सोवियत संघ

द्वारा प्रतीकित उद्देश्य और संघर्ष के साथ सौभ्रातृ, साम्प्रदायिक दंगे और अन्त को राजनीतिक स्वतन्त्रता आदि घटनाएं आती हैं। इस सम्पूर्ण जटिल समसामयिक वास्तविकता को आत्मसात् और चित्रित करने मे विष्णु दे ने अनावश्यक प्रतिरूपण और उपदेशात्मक अतिरेक की कृत्रिमता को बराबर ही बचाये रखा है।

विष्णु दे की शिल्पगत कलादक्षता का परिचय उनकी प्रतिभा की संक्रमण-प्रक्रिया के माध्यम से पूर्ण रूप मे मिलता है। उदाहरण के लिए 'पूर्वलेख' मे आयी उनकी प्रसिद्ध कविता 'जन्माष्टमी' ही है जो कलकत्ता नगर का एक अत्यन्त सवेदनापूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है और अपने चित्रो-प्रतिचित्रो एवं विषय-प्रतिविषयो के अद्भुत सन्निधान के द्वारा एक विलक्षण शैली की परिचायक बन उठी है।

दे की यह अगली काव्यकृति (1944-49) उनकी मानवीय पूर्णता सम्बन्धी परिकल्पना का एक पूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत करती है। जिस विचार-बिन्दु पर कवि यहा पहुंचे है वह इस प्रतीति पर आधारित है कि सत्ता और सस्कृति की पीठ बने हुए हमारे नगरों द्वारा जिन अनगिन भारतीय ग्रामों को उपेक्षा दी जाती है उन ग्रामो में ही वास्तव मे सभ्यता का अक्षय भण्डार निहित है। और तभी से कलकत्ते से 200 मील दूर बिहार के सन्थाल-परगने का वह छोटा-सा गांव रिखिया कवि दे की अन्तर्दृष्टि और निर्मम मानवीयता पर अचूक प्रभाव बना आया।

इस संग्रह की शीर्षक-कविता उनके कवि-मानस के समूचे रूप-सांचे को उद्घाटित करती है और वाणी देती है भोर से साझ तक जड प्रकृति के साथ उत्पादक सामंजस्य मे जुटे किसान के आद्यरूप से उनके तादात्म्य को, नगर-नगर की सड़कों पर जीविका के लिए संघर्ष करते मजदूरो के लिए उनके समर्थन को, मध्यवर्गीय जीवन के नागर मरु मे उनके एकाकीपन के तीव्र बोध को, श्रेष्ठतर मानवीय सत्य के लिए सतत उद्योग-स्वरूप प्रकृति के साथ मनुष्य के एकात्म होने की उनकी प्रतीति को, उनके उस समूचे कला और सगीत के संसार को जो उनके जीवन का आधार है, और सबसे अधिक, मानव द्वारा मानव के शोषण से मुक्त, अधिक निर्मल, अधिक न्यायपूर्ण, अधिक सुन्दर, अधिक उदार जीवन के लिए समाज का

जो स्वरूप उन्होंने परिकल्पित किया है उसमें उनकी सर्जनात्मक आस्था को।

'अन्विष्ट' की अधिकांश कविताओं, जैसे 'जल दाओ', 'अविच्छिन्न काव्य', 'एलसिनोर', '14 अगस्त' और स्वयं शीर्षक-कविता 'अन्विष्ट' का केन्द्र-विषय प्रेम है : उन स्त्री-पुरुषों का प्रेम जो उसके योग्य है और समर्थ हैं और जिनमें प्रेम और जीवन के उल्लास का "जीवित रखना ही सहज स्वाभाविक क्रिया" है। यह वही विशेषता है प्रेम की जिसे अरागों ने एलुआर्ड की कविताओं की अभिशंसा करते हुए बड़ा महत्त्वपूर्ण माना था और कहा था :

"पुरुष की अब बिना स्त्री के कल्पना नहीं की जा सकती, न ही स्त्री की बिना पुरुष के; और आज के युग में तो प्रेम की अभिव्यक्ति, मात्र प्रेम की एक धारणा नहीं होती जो आकांक्षा की एकपक्षीय अभिव्यक्ति हो : प्रेमी अब अकेला नहीं एक युग्म होता है। युग्म में स्त्री और पुरुष का प्रेम ठीक तब सामंजस्य प्राप्त करता है जब दोनों ही संसार की उस बोध-दृष्टि के लिए साथ-साथ उठ खड़े होते हैं जहां साहसिकता विस्तृत हो जाती है और मानव सत्ता का प्रेम तादात्म्य प्राप्त करता है।"

'अन्विष्ट' और 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' के बीच हमें कवि से तीन और काव्य-कृतियां प्राप्त हुईं : 'नाम रेखेछि कोमल गान्धार' (1945-53), 'आलेख्य' (1944-57), और 'तुमि शुधु पंचीशे वैशाख' (1954-57)। विषयवस्तु और रचनारूप की दृष्टि से इन कविताओं में बहुत अधिक विविधता है; पर जिस विचार-बिन्दु पर विष्णु दे 'अन्विष्ट' में आये थे उसे यहां स्पष्ट ही और अधिक विकास प्राप्त हुआ।

पर हमारे देश के निकट-कालीन इतिहास को तो अभी शताब्दियों के विदेशी शासन द्वारा छोड़े हुए उन्मूलन के दाय और अभिज्ञा के संकट भार से मुक्त होना रहता है। इस सन्दर्भ में, कवि की अभिज्ञा शक्ति को अपने लिए सम्पोषण मनुष्य में सच्चे मानवतत्व को बनाये रखने के संघर्ष में और सृजनशील मानवजीवन के अर्थ और साधनों के लिए संघर्ष-संकल्प में ही प्राप्त होता है। और इस प्रकार से कविता का संघर्ष चलता रहता है : मनुष्य द्वारा मनुष्य की विकृति के विरुद्ध; मानवी सम्पूर्णता को सम्मुख

लाने और उसे अभिव्यक्ति देने वाली कविता का संघर्ष !

और यही तो है काव्य-संसार 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' (1955-61) का ! शीर्षक-कविता मे समसामयिक प्रासंगिकता की अद्भुत प्रभावपूर्णता के साथ टैगोर की एक सुप्रसिद्ध कहानी की विषयवस्तु का उपयोग किया गया है। विषयवस्तु एक विचित्र विवाह समारोह की है जहां सभी आयोजनाएं पूरी की जा चुकी हैं, केवल वर नहीं है। वर, एकमात्र जिसके तादात्म्य में ही समारोह की पूर्णता हो सकती है ! कहानी के माध्यम से चलती हुई कविता, एक नयी अन्तर्दृष्टि के साथ, हमारे अपने भीतर और बाहर सब कहीं व्याप्त तादात्म्य के संकट को व्यक्त करती है। इस संग्रह की प्रत्येक कविता में भय, चिन्ता और शोषण के विरुद्ध कवि के ऐकान्तिक संघर्ष और मानव सत्ता के सौन्दर्य और गौरव के लिए उसकी अनवरत खोज की छाप अंकित है।

विष्णु दे की सृजनात्मक कृतियों में 15 कविता संग्रह, चार प्रतिनिधि संकलन, छह गद्य संकलन बांग्ला में और आठ गद्य संकलन अंग्रेजी में तथा छह अन्य भाषाओं के व्यक्तियों की बांग्ला में अनूदित कविताएं ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व तक पाठकों द्वारा समादृत हो चुकी थीं।

☐ विष्णु दे बांग्ला के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले दूसरे साहित्यकार थे। इस भाषा के लिए यह गौरव पाने वाले पहले साहित्यकार थे—ताराशंकर वंद्योपाध्याय, जिन्हें 1967 का दूसरा ज्ञानपीठ पुरस्कार उनके उपन्यास 'गणदेवता' पर समर्पित हुआ।

रामधारीसिंह दिनकर

जन्म : 23 सितंबर, 1908
स्मृति शेष : 1974
पुरस्कृत कृति : उर्वशी
भाषा : हिन्दी
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1961 से 1965
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 2 दिसंबर, 1973
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

आठवां पुरस्कार : 1972

रामधारीसिंह दिनकर

कविश्री रामधारीसिंह दिनकर का जन्म 23 सितम्बर, 1908 को मुंगेर जिले के सिमरिया ग्राम मे हुआ था। पिता एक साधारण किसान थे और दिनकरजी दो वर्ष के रहे होंगे कि उनका हस्तालम्ब परिवार के सिर पर से सदा के लिए उठ गया। परिणामतः कवि और उनके भाई-बहनों का पालन-पोषण विधवा माता ने किया।

दिनकरजी का सारा बचपन और कैशोर्य गांव-देहात मे बीता : जहां दूर तक फैले खेतो की हरियाली थी, बासो के घने वन थे, रसीले आमों के बगीचे थे, चिकनी-कोमल कास के विस्तार थे। स्वभावतः प्रकृति की इस विविध सुषमा का प्रभाव दिनकर के मन-प्राण मे पैठा और बस रहा। पर सम्भवतः इसी सहज सवेदनशीलता के ही कारण अधिक गहरा प्रभाव वास्तविक जीवन की कठोरताओ का पडा जो उनके परिवेश का उतना ही ठोस सत्य थीं।

बाढ़ो की विभीषिका, महामारियो के बंधे हुए फेरे, आये दिन द्वार खड़े दुर्भिक्ष, जमीदार-साहूकार के जुल्म, और इस सबके बीच किसान नामक प्राणी का अन्तहीन जीवन-संघर्ष : क्या नही था जिसे उन्होंने बिलकुल निकट से न देखा हो ! कवि वह हुए : उन्हे होना ही था; पर मन समाजोन्मुखी बने बिना न रहा। फिर तो अन्तस् से जहां रस की धार फूटी वही असन्तोष और विद्रोह की चिनगारियां भी चिटकी। वे साहित्य मे आये तो दोनो ही तो स्वर एक साथ लिये हुए !

मैट्रिक्युलेशन के बाद 1928 मे दिनकर पटना आ गये और इतिहास मे ऑनर्स के साथ 1932 मे बी० ए० किया। अगले ही वर्ष एक नये-नये खुले स्कूल के वह प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए, पर यहां से हटकर 1934 में उन्होंने बिहार सरकार के अधीन सब-रजिस्ट्रार का पद स्वीकार कर लिया।

नौ वर्ष के लगभग इस पद पर वह रहे, और यह समूचा काल उनका जैसे बिहार के देहातों में बीता। जीवन का जो पीड़ित रूप उन्होंने बचपन से देखा था और जिसके जगाये आवेग-संवेग निरन्तर कसकते आये थे, उसे ही इस काल में उनकी तरुणाई के अदम्य ओज-उत्साह और सपनों-भरी दृष्टि-बुद्धि ने और भी प्रत्यक्षता से एक व्यापक रूप में देखा।

फिर तो ज्वार उमड़ा। और 'रेणुका' आयी, 'हुंकार' आयी; 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' भी आये। 'रेणुका' और 'हुंकार' की कुछ रचनाएं यहां-वहां प्रकाश में आयीं कि अंगरेज शासन-अधिकारियों को समझते देर न लगी कि वे एक गलत आदमी को अपने तन्त्र का अंग बना बैठे हैं। और यह समझना था कि दिनकरजी की फाइल तैयार होने लगी: बात-न-बात कैफियत तलब होती और चेतावनियां मिला करतीं। चार बरस में बाईस बार तो उनका तबादला किया गया। स्थिति यह थी कि उधर सरकार चाहती थी यह परेशान होकर चले जायें, इधर यह न अपनी विवशता के कारण सर्विस छोड़ सकते थे न आन्तरिक भावनाओं को ही दबा पाते थे।

अन्त को 1943 में उनका तबादला करके प्रचार विभाग में पटना भेज दिया गया। पर 1947 में देश स्वाधीन हो गया और दो-तीन वर्ष जाते-न-जाते वह बिहार विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष नियुक्त होकर मुजफ्फरपुर आ गये। फिर 1952 में जब भारत की प्रथम संसद् का निर्माण हुआ तो इन्हें राज्यसभा का सदस्य चुना गया और यह दिल्ली आ गये। बारह वर्ष दिनकरजी संसद् के सदस्य रहे; बाद को भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति होकर चले गये। पर अगले ही वर्ष भारत सरकार ने उन्हें अपना हिन्दी सलाहकार नियुक्त किया और उन्हें फिर दिल्ली आ जाना पड़ा।

दिनकरजी उच्चकोटि के उन विरल कवि-चिन्तकों में थे जो साहित्यकार के रूप में सफल भी माने गये और सौभाग्यशाली भी हुए। उन्हें प्रारम्भ से ही जनता का आदर-प्रेम और सहृदय विद्वानों का समर्थन प्राप्त रहा। हिन्दी जगत् मे उनकी व्यापक प्रसिद्धि 'हिमालय' शीर्षक कविता से हुई जो 1933 मे रची गयी थी। वह काल था जब देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन और संघर्ष घर-घर की बात बने हुए थे: जनता इस कविता को

दिनकरजी के ओजस्वी स्वर में सुनती और पंक्ति-पंक्ति पर झूम उठती। भारी प्रशंसाओं के साथ दो-तीन स्वर्ण-पदक भी उन्हे मिले।

1948 में 'कुरुक्षेत्र' के लिए साहित्यकार संसद इलाहाबाद ने दिनकर जी को पुरस्कृत और अभिनन्दित किया। दो बार उन्हे नागरी प्रचारिणी सभा का द्विवेदी-पदक भी प्राप्त हुआ। 'उर्वशी' पर तो कई पुरस्कार मिले, जिनमे उत्तर प्रदेश की सरकार का पुरस्कार, नागरी प्रचारिणी सभा का रत्नाकर-पुरस्कार और बलदेवदास पदक उल्लेखनीय है। 1959 मे वह भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से विभूषित किये गये और अगले वर्ष 'संस्कृति के चार अध्याय' पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। 1961 मे भागलपुर विश्वविद्यालय ने डी० लिट् की मानद उपाधि दी; और विद्यावाचस्पति, साहित्य-चूणामणि, मनीषी आदि उपाधिया तो अनेक शिक्षा सस्थानों से उन्हे प्राप्त हुई। देश की जनता अपना प्रेम प्रकट करने को उन्हे 'राष्ट्र-कवि' कहती है।

दिनकरजी की रचनाओं के अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में तो व्यापक रूप से आये ही है, विदेशी भाषाओं में भी उनके अनुवाद समादृत हुए हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह रूसी भाषा में अनूदित होकर मॉस्को से प्रकाशित हुआ है और दूसरा स्पेनी में दक्षिणी अमरीका के चाइल देश से। 'कुरुक्षेत्र' का तो पद्यानुवाद कई भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुआ है।

दिनकरजी की पहली कविता 1924 में प्रकाशित हुई थी। एक लघु-संग्रह 'बारदोली विजय' 1928 मे निकला और एक लघु खण्डकाव्य 'प्रणभंग' 1929 मे। पर यथार्थ में उनके कवि-जीवन का आरम्भ 1935 से हुआ माना जाता है जब छायावाद के कुहासे को चीरती हुई 'रेणुका' प्रकाशित हुई और हिन्दी जगत् ने अचक्चाकर देखा कि एक सर्वथा नयी शैली, नयी शक्ति, नयी भाषा अपनी अचूक गूंजों से वातावरण को भर उठी है। उत्साह की एक लहर दौड़ गयी। लगा, जैसे गजदन्ती मीनार मे रहने वाली अप्सरा सहसा रेशमी परिधान को छोड़ जनता के अपने वेश-भाव में जनता के ही जीवन में घुल-मिल रहने के लिए धरती पर उतर आयी हो!

इसके तीनेक वर्ष बाद जब 'हुंकार' प्रकाशित हुई तो देश के युवा वर्ग

ने कवि और उसकी ओजमयी कविताओं को कण्ठहार-सा बना लिया। किसी ने दिनकर को हिन्दी का 'जोश' मलीहाबादी कहा तो किसी ने काजी नजरुल। पर सभी के लिए वे अब राष्ट्रीयता, विद्रोह और क्रान्ति के कवि थे। और क्योंकि नयी चेतना के वैतालिक यह कार्य वह सरकारी सर्विस में रहते हुए कर रहे थे, इसलिए जनता उनके प्रति और भी अधिक श्रद्धालु बन उठी थी। यही शायद कारण भी हुआ कि 'हुंकार' के प्रकाशन के लिए सरकार की पूर्वानुमति को दिनकरजी ने आवश्यक नहीं समझा और अधिकारीवर्ग उन्हें बाध्य नहीं कर सका।

सहसा दिनकर की पागल जनता को एक झटका लगा जब 1939 में 'रसवन्ती' और 1940 में 'द्वन्द्वगीत' का प्रकाशन हुआ। अनेक-अनेक प्रशंसक-समर्थक तो सोच चले कि यह ज्वालामुखी कण्ठ अन्त को संघर्ष-भूमि से पलायन कर गया। सत्य यह न था, सत्य उनके व्यक्तित्व में ही दो तत्वों के सह-गामित्व का था। और छह वर्ष बाद 'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' से सबने देख लिया कि दिनकर ने पलायन नहीं किया था, वह तो अपने अभियान का दर्शन बुन रहे थे। वस्तुतः बेनीपुरीजी के शब्दों में, "अंगारे और इन्द्रधनुष दोनों ही दिनकरजी के काव्य में सहवासी रहते है : कभी एक साथ, कभी बारी-बारी।"

'कुरुक्षेत्र' द्वितीय महायुद्ध के समय की रचना है। किन्तु उसकी मूल-प्रेरणा युद्ध से नहीं, उस देशभक्त युवा मानस के द्वन्द्व से आयी थी जो गांधी जी की अहिंसा को मात्र नीति मानता था और एक दिन समाजवादी या साम्यवादी हो उठा। कवि का अपना निष्कर्ष यही है कि संसार में जब तक समता स्थापित नहीं होती, युद्धों का होना रुकेगा नहीं। इसी संदर्भ में, हिरोशिमा की विभीषिका को देखकर, कवि ने विज्ञान के आविष्कारों को भी अभिशाप माना, क्योंकि उन्हें नियन्त्रण में रखने की योग्यता मनुष्य में नहीं है। 'रश्मिरथी' उनका एक और प्रधानतः वीरता और पौरुष का काव्य है जो 1952 में आया और उनकी प्रतिष्ठा के प्रसार में सहायक हुआ।

1955 में 'नीलकुसुम' दिनकर के काव्य में एक मोड़ का द्योतन करने आया। अभी तक उनका काव्य उच्छल आवेश का काव्य था, 'नीलकुसुम' ने नियन्त्रण और गहराइयों में पैठने की प्रवृत्ति की सूचना दी। कदाचित्

यह प्रभाव था विश्व के समकालीन काव्य साहित्य के अध्ययन का। छह वर्ष बाद 'उर्वशी' प्रकाशित हुई तो हिन्दी साहित्य मे अनुभव किया गया कि एक घटना घटित हो गयी। इस काव्य-नाटक को दिनकर की 'कवि-*प्रतिभा का चमत्कार' माना गया।*

कवि ने इस वैदिक मिथक के माध्यम से देवता और मनुष्य, स्वर्ग और पृथ्वी, अप्सरा और लक्ष्मी, और काम और अध्यात्म के सम्बन्धों का विश्लेषण किया है। वास्तव में अनादि काल से ही मानव काम और अध्यात्म के द्वन्द्व मे उलझा रहा आया है: उसे छोड़ते बना नही और पार पाना सम्भव न हुआ। पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम उस उच्च धरातल का स्पर्श करता है जहां काम और अध्यात्म की परस्पर दूरी लुप्त हो जाती है। पुरुष यहां नारी की कामना भी करता है और उसका अतिक्रमण भी। काम और अध्यात्म के द्वन्द्व से हारकर पुरुरवा संसार से भागता है किन्तु सुकन्या को अंकशायिनी बनाकर भी च्यवन तपस्वी ही बने रहते हैं।

दिनकरजी ने माना है कि उन पर प्रारम्भ से ही जितना प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रहा उतना ही मोहम्मद इकबाल का। बाद को इलियट की *काव्य-शैली और विचार-दृष्टि ने उनके कवि मानस को छूकर दूर तक* उन्मथित कर दिया। परिणामत: उनकी कविताओं ने एक नयी भंगिमा को ग्रहण किया। 'परशुराम की प्रतिज्ञा', 'कोयला और कवित्व', 'आत्मा की आखे', 'सीपी और शख', 'हारे को हरि नाम' और, अवश्य, 'उर्वशी' भी इसी नयी भगिमा की झांकी प्रस्तुत करती हैं।

दिनकरजी अपने युग के एक प्रमुखतम कवि ही नहीं, सफल और प्रभावपूर्ण गद्यलेखक भी थे। सीधी-सरल भाषा और अत्यन्त प्रांजल-शैली में उन्होने विभिन्न साहित्यिक विषयों पर निबन्ध भी दिये, तो बोधकथा-डायरी-सस्मरण भी, और दर्शन-इतिहासगत तथ्यो के विवेचन भी। उनकी काव्य-कृतिया तीस है और गद्य-कृतियां पचीस।

☐ दिनकर से पूर्व हिन्दी के लिए यह गौरव हासिल किया था कवि सुमित्रानन्दन पंत ने, जिन्हे वर्ष 1969 का चौथा ज्ञानपीठ पुरस्कार उनके कविता संग्रह 'चिदम्बरा' पर समर्पित किया गया।
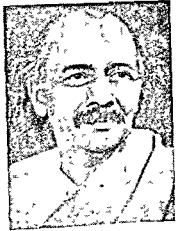
दत्तात्रय रामचंद्र बेन्द्रे

जन्म : 31 जनवरी, 1896

स्मृति शेष : 1983

पुरस्कृत कृति : नाकुतंति

भाषा : कन्नड़

विधा : कविता

पुरस्कार अवधि : 1962 से 1966
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
दो कृतियों में से एक

पुरस्कार अर्पण : 8 नवंबर, 1974
विज्ञान भवन, नई दिल्ली

पुरस्कार राशि : पचास हजार रुपया

नौवां पुरस्कार : 1973

दत्तात्रय रामचंद्र बेन्द्रे

कविश्री बेन्द्रे का जन्म 31 जनवरी, 1896 को धारवाड़ मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। अकिंचन परिवार दीर्घ काल से अभावग्रस्त था। स्वभावतः बेन्द्रे को उत्तराधिकार में दो सम्पदाएं मिलीं : संस्कारिता और विद्यानुराग। पितामह मर्मी वेदज्ञ थे : उनके शिष्यों में कोई सन्तमना हुए, कोई मनीषी विद्वान्। पिता को गण्डमाला का रोग था : उन्होंने अपने को जीवित रखा तो इस कर्त्तव्य-बोध से कि पुत्र को पुरखों की ज्ञानथाती सौंप सकें। कवि की चेतना को रूप-दिशा देने मे जिसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही वह मा थी। मा भी बेटे को दे सकी तो केवल प्यार; पर यही प्यार था जो बेन्द्रे की मनोभूमि में प्राणिमात्र के लिए आदर-भाव और इस सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता-पालनहार के प्रति अडिग आस्था को सदा-सदा के लिए रोप गया।

'बालकाण्ड' शीर्षक कविता में बेन्द्रे ने यहां के इन दिनों की कुछ छवियां उकेरी है। आसपास समाज में किसी भी घर सम्पन्नता न थी, बहुतों के व्यवहार मे शिष्टता तक का अभाव था; फिर भी सब ओर एक जीवन्तता थी : सब कोई प्रकृति के हास और रोष के साथ बंधे हुए, सब कुछ उसी के ऋतु-रंगों और पर्वो के साथ तालबद्ध। सामाजिक या पारिवारिक, कोई कार्य न होता जिसके साथ गीत न जुड़े रहते। भक्त और भिखारी, नर्तकियें-स्वांगी और फेरीवाले तक अपने-अपने गीत लिये आते और इन गीतों की रंगारग भाषा, उनकी लयों की विविधता, बेन्द्रे के बाल-मन पर छायी रह जाती। भावनाओं के स्तर पर बेन्द्रे का इसी लोक-समाज की नियति के साथ एक तादात्म्य जैसा बन उठा था। लोक-समाज ने भी, 1932 मे उनका प्रथम कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ उससे पहले ही, उन्हें 'अपने कवि' के रूप मे अंगीकार कर लिया था।

बेन्द्रे अन्यान्य आधुनिक कवियों की नाईं एक आत्मचेतन कवि हैं। पर

इनकी आत्मचेतना औरों से भिन्न है। आधुनिक कवि की आत्मचेतना के मूल में उसका अदम्य अहंबोध रहता है; बेन्द्रे की आत्मचेतना एक सहज देन है उनके कविगत जीवन-उद्देश्य सम्बन्धी उच्च धारणा-भावना की। बेन्द्रे सर्वाधिक प्रबुद्धमना कन्नड़ लेखकों में से थे। स्वभावत: प्रारम्भ से ही उनके आगे समस्या रही कि किस प्रकार लोक-समाज के मनोभावों का अपनी निजी बौद्धिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों के साथ तालमेल बैठायें। कितनी सफलतापूर्वक यह कार्य उन्होंने किया, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी रचनाएं हैं।

इस प्रकार, चिन्तन और भावानुभूति, वस्तुपरक विषय और आत्म-परक विषय, दोनों को अपनी रचनाओं में समायोजित करने के कारण बेन्द्रे के काव्य को कुछ आलोचकों ने 'बौद्धिक काव्य' का नाम दिया है। यह सत्य है कि उनकी कितनी ही कविताएं बौद्धिक प्रगीत हैं जबकि अन्य सबके विषय आध्यात्मिक हैं या रहस्यवादी। किन्तु जिस कवि ने मानव जीवन और अनुभूति के प्रत्येक पक्ष को अपने चिन्तन और अभिव्यक्ति का विषय बनाया हो उसकी रचनाओं में समरूपता की अपेक्षा करना कोई अर्थ रखेगा क्या? उनकी एक बड़ी यशस्कारी कविता है जिसमें उडते पांखी का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए समय की तीव्र वेगयुक्त उड़ान को दर्शाया गया है। विशेषता इस कविता की यह है कि इसके द्वारा समय के सनातन अर्थों का ही नहीं, मानव जीवन और जगत के इतिहास का भी द्योतन किया गया है। समय को इसमें एक नियत कालावधि के भाव में भी लिया गया है और निखिल विश्व सृष्टि की एक अतिरिक्त विभा के अर्थ में भी। और इन विभिन्न अर्थ-भंगिमाओं को प्रकट किया गया है कविता की अपनी सहज सीमाओं का अतिक्रमण न करते हुए!

यह सचाई है कि बेन्द्रे के काव्य का रहस्यवाद भी कुछ और प्रकार का है और तात्विक पक्ष भी। उनमें अडिग आस्था है एक ऐसी सर्वोपरि सत्ता के प्रति जो सम्पूर्ण विश्वजगत् की सिरजनहार है और संपालनकर्ता भी। वे विश्वजगत् को मायारूप नहीं, वास्तविकता मानते है। इसी आस्था के आलोक-सन्दर्भ में उन्होंने मानवीय स्वतन्त्रता और कर्त्तव्य-भावना सम्बन्धी नाना प्रश्नों को भी निरखा-परखा है और पाया है कि वह सब दैवी इच्छा

के अधीन रहा करता है। अवश्य, वह सर्वोच्च दैवी शक्ति स्वेच्छाचारी या निरंकुश नहीं होती, वह तो करुणा और प्रेम का भण्डार होती है। भगवान् अपनी सृष्टि की देखरेख उसी चिन्ता-भावना और मार्दवता के साथ करते है जो एक मा की होती है। मां की नाई ही अपनी सन्तान को उन्होंने स्वतन्त्रता भी दी है। मातृभाव का यह दिव्यत्व, वास्तव में, बेन्द्रे के काव्य मे विषय की दृष्टि से केन्द्रस्थ है। नितान्त अस्त-व्यस्त और आकुल संसार में क्रम और व्यवस्था है तो उस मां के कारण, और उसी मां की कृपा से सभ्यता और संस्कृति ने यहां विकास पाया। बेन्द्रे के लिए तो नारी मात्र एक अत्यन्त विलक्षण और अथाह जिज्ञासा का विषय है; नारी आत्मा की शक्ति-सामर्थ्य और महत्ता का वर्णन करते वे कभी नहीं अघाते।

बेन्द्रे न रोमांसवादी हैं न प्रतिबद्धता के कवि। वह तो एक सम्पूर्ण कवि हैं—ऐसे कवि, जिन्होंने 'युग के चेतना-बिन्दु' के साथ तादात्म्य किया है; ऐसे कवि, जिन्हें भाषा और अभिव्यक्ति पर इतना अधिकार है कि जटिल-से-जटिल विचार-बोध और अनुभूति को भी प्रत्यक्ष कर दें; और ऐसे कवि, जिन्होंने कन्नड़ काव्य की भव्य परम्परा को समृद्ध किया है, अनुप्राणित किया है।

'नाकुतन्ती' अर्थात् 'चार तार' कवि बेन्द्रे का एक कविता-संग्रह है, जिसमे सब मिलाकर चवालीस रचनाएं आयी हैं। छह का सम्बन्ध है समकालीन लेखकों के प्रति उनके अपने नाते के रूप-भाव से और जनतन्त्र के वास्तविक अभिप्राय से। शेष कविताओं में विचार-चिन्तन और भावनाओं की एक विलक्षण संगति देखने को मिलती है। वास्तव में चार के अंक की जो धारणा कवि की अन्तरात्मा मे बसी हुई है, वही उनकी समस्त कविताओं के ढांचे का मूल तत्व है और उसी से उनमे वह भाव-सगति भी आ सकी।

शीर्षक-कविता 'नाकुतन्ती' मे कवि के व्यक्तित्व के चारों पक्षों—मैं, तुम, वह और कल्पनाशील आत्मसत्ता—का वर्णन हुआ है। ये चार पक्ष ही कवि के व्यक्तित्व का चौहरा ढांचा है; और चार के इसी मूलभूत नियम-तत्व को कवि ने ज्ञात किया है अपनी अनुभूति के सभी, आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक, क्षेत्रों में। कविता की सृजन-प्रक्रिया विषयक छह सॉनेटों में बेन्द्रे ने कविता के चार मूल तत्व गिनाये हैं : शब्द, अर्थ, लय और सहृदय।

संग्रह की एक अन्य कविता में, इसी प्रकार, प्रभावपूर्ण बिम्बों के द्वारा कवि ने वाक्शक्ति के चारों रूपों—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—का वर्णन किया है। बेन्द्रे की सौन्दर्य विषयक परिकल्पना के भी चार पक्ष हैं—इन्द्रियगत, कल्पनागत, बुद्धिगत और आदर्श—जो उनकी कविताओं में यथास्थान आये हैं।

चार का यह व्यवस्थित क्रम उनकी सभी कविताओं मे अनुस्यूत है। परिणामतः उनकी कविताओं में वर्णित सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक अनुभूति एक ऐसा रूप ले उठती है कि उसके महत्व को समझ पाना कठिन हो जाता है। 'नाकुतन्ती' की कविताओं का उद्देश्य मात्र इतना नही कि अनुभूति के नव-नवीन क्षेत्रों का अन्वेषण और उद्घाटन करें, उद्देश्य यह भी है कि परिचय में आयी हुई अनुभूतियों को एक नया दृष्टि आलोक दें। ऐसा लगता है मानो कवि प्रयत्नशील है कि संसार से अपने सम्बन्धभाव को कविता के माध्यम से समझ पाये; और साथ ही अपने 'स्व' में पैठ-पैठकर उस नियम-तत्व को ज्ञात करके सबके आगे प्रकट कर सके जिसके अधीन विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था चलती है।

ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व तक कवि बेन्द्रे 26 काव्य-रचनाओं के अतिरिक्त, दो नाटक और एक कहानी-संग्रह, नौ आलोचना-ग्रन्थों का सृजन कर चुके थे। इनके अतिरिक्त अपनी मातृभाषा मराठी में तीन गद्य कृतियां और छह ग्रन्थों का कन्नड़ में अनुवाद किया था।

☐ यह दूसरा अवसर था जब ज्ञानपीठ पुरस्कार दो लेखकों को संयुक्त रूप से दिया गया। कवि बेन्द्रे के सहविजेता थे उड़िया उपन्यासकार गोपीनाथ महान्ती।

☐ यह दूसरा अवसर था जब कन्नड़ भाषा को दूसरी बार भी अन्य भाषा के साथ संयुक्त रूप से यह गौरव मिला।

☐ कन्नड़ कवि कुवेंपु को गुजराती कवि उमाशंकर जोशी के साथ तीसरा ज्ञानपीठ पुरस्कार (1967) मिला था और अब कन्नड़ कवि बेन्द्रे को नौवां (1973), सहविजेता भाषा रही—उड़िया।

गोपीनाथ महांती

जन्म : 4 अप्रैल, 1914
पुरस्कृत कृति : माटीमटाल
भाषा : उड़िया
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : 1962 से 1966
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
दो कृतियों में से एक
पुरस्कार अर्पण : 8 नवंबर, 1974
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : पचास हज़ार रुपया

नौवां पुरस्कार : 1973

कठिनाई उधर आड़े आयी और किसी कॉलेज मे स्थान रिक्त न होना इधर बाधक पड़ा। दो वर्ष बाद उन्होंने सौ रुपये मासिक वेतन पर उड़ीसा ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (जूनियर) जॉएन कर ली।

1930 से 1938 के बीच का काल गोपीनाथ महान्ती के लेखक-जीवन का निर्माण-काल माना जा सकता है। तीन प्रभावो की छाप उन पर पड़ रही थी। दो पश्चिम के, एक भारत का। मार्क्स एव रूसी क्रांति और फ्रॉएड पश्चिम के प्रभाव थे; और गांधीजी एव राष्ट्रीय आन्दोलन भारत का था। गोपीनाथ गम्भीर और व्यापक अध्ययन मे लगे रहते थे। रोमां रोलां और गोर्की उन्हें विशेष प्रिय लगते। वे उन दिनों साहित्यिक विधा-रूपों में नये-नये प्रयोग किया करते और प्रचलित रोमांटिक अभि-रुचियों का खुला विरोध। उन्होंने स्वयं इस काल को पाश्चात्य साहित्य के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की अविराम खोज का काल बताया है।

एकाग्र भाव से लिखना गोपीनाथ ने 1936 में प्रारम्भ किया और दो वर्ष उनके प्रथम उपन्यास 'मन गहिरर चाष' के पूरा होने मे लगे। इसके बाद से तो एकनिष्ठ होकर वे निरन्तर लिखते आये है। अपनी सर्विस के दीर्घकाल में वे विभिन्न पदों पर उड़ीसा के विभिन्न भागों में रहे। इनमें आदिवासियों के दक्षिणी जिले भी थे। पर कही और किसी भी पद पर रहे, अपना प्रबल स्वतन्त्र मनोभाव उन्होंने सदा बनाये रखा जो उत्तराधिकार में पिता से पाया था। इतना ही नही, उन्होंने प्रकट रूप से निर्धन-शोषितों, पददलित-असहायों और निरीह आदिवासियों के पक्ष का सदा समर्थन किया।

इसका और लेखक के रूप में उनकी बढती ख्याति का परिणाम यह हुआ कि लोग उनसे डाह करने लगे और, जिनके पास धन था या राजनीतिक सत्ता का बल, वे तो उनके खुले विरोधी ही हो उठे। जिन दिनों गोपीबाबू कोरापुट मे एस० डी० ओ० और सब जज के संयुक्त पद पर थे, तब वहां के कुछ ऐसे लोगों ने मिलकर उनके विरुद्ध प्रधानमन्त्री नेहरू के पास याचि-काएं तक भेजी थी। पर निडर और अडिग गोपीबाबू अपने मार्ग पर चलते रहे। आज उनका उड़िया साहित्य-जगत् में शीर्ष स्थान है और वे परिवार के साथ भुवनेश्वर में निराकुल-निर्विघ्न जीवन बिता रहे हैं।

गोपीनाथ के कथा-साहित्य को तीन वर्गों में रखा जा सकता है। पहला वर्ग उन दिनों की रचनाओं का है जब वे आदिवासियों के इलाके में नियुक्त थे। ये रचनाएं हैं : दादिबुढा, परजा, अमृतर सन्तान, शिव भाइ, अपहंच। दूसरे वर्ग की रचनाओं का विषय नगरवासी जन-समाज है। ये रचनाएं हैं : हरिजन, शरत बाबुक गलि, राहुर छाया, सपन माटि, दाना-पानी, लय-विलय। तीसरे वर्ग में वस्तुतः एक ही रचना आती है—माटी मटाल। इन सबमे गोपीबाबू की तीन रचनाएं हैं जिन्होने सबसे अधिक ख्याति अर्जित की है : परजा, अमृतर सन्तान, माटी मटाल।

'परजा' में कोरापुट जिले की एक छोटी-सी निर्धन-दरिद्र आदिवासी बस्ती का छवि-अंकन किया गया है। पूरे कबीले का विवरण देने के लिए माध्यम बनाया गया है वहां के एक परिवार को जिसे प्रतिकूल परिस्थितियों का भंवरजाल घूम-घूमकर तब तक घेरता रहता है जब तक वह विनष्ट नहीं हो जाता। मूल रूप से इस रचना के द्वारा सरलता-निर्दोषता और दुष्टता के संघर्ष को दर्शाया गया है जिसमे पराजय पहले पक्ष की होती है।

'अमृतर सन्तान' का दृश्यचित्र अधिक विस्तृत है : गठन भी इसका जटिल है। पर कथाकेन्द्र यहां भी एक ही परिवार को बनाया गया है, और घटनास्थल भी एक ही गांव को। मगर आदिवासियों की जिस कोंढ जाति को यहां लिया गया है वह क्योंकि बहुत प्राचीन है, जनसख्या मे बड़ी है, और उसकी एक अपनी नियत जीवन-प्रणाली है, इसलिए कथासूत्र स्वभावतः चिन्तनप्रधान हो आया है। दुष्ट पक्ष यहा भी है, और सक्रिय है, पर उतने ही बल के साथ भला पक्ष भी अन्त तक सक्रिय बना रहता है।

'हरिजन' में कटक नगर के एक गन्दे भाग में गन्दी-घिनौनी मड़ैयों मे रहते हरिजनो का चित्रण हुआ है। साथ ही, उस शक्तिशाली धनी वर्ग के साथ इन अभागों के जीवन की तुलनात्मक विषमता को भी उजागर किया गया है जो इनका शोषण करता है और अन्त को नगर-सीमाओं से बाहर जाने के लिए बाध्य करता है। 'दानापानी' में एक नगर निवासी की कहानी आयी है जो ऊंचा स्थान पाने के लिए सभी उपाय काम मे लाता है, यहां तक कि पत्नी के रूप-यौवन तक का उपयोग करता है। इन दोनों उपन्यासों में लेखक ने नगरवासियों के चेहरे पर से सभ्यता का मुखौटा हटाकर उनके

वास्तविक रूप से साक्षात्कार कराया है।

माटीमटाल

तीन लाख बीस हजार शब्दों का यह उपन्यास उड़िया का सम्भवतः सबसे लम्बा उपन्यास है, जिसे पूरा करने में लेखक को प्रायः दस वर्ष लगे। उड़िया ग्राम-जीवन का इसे एक महाकाव्य जैसा माना जाता है। इतना विस्तृत और इतना भाषा-सौन्दर्ययुक्त कोई उपन्यास उड़िया में पहले नहीं लिखा गया। विचित्र बात यह कि कथानक के नाम केवल एक बाह्य रेखा-कृति दी गयी है और जो दो प्रमुखतम चरित्र हैं, नायक और नायिका, उन्हें अद्‌भुत रूप से अल्पभाषी बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

उपन्यास का प्रारम्भ होता है जब नायक रवि बी० ए० करके नौकरी के लिए नगर को जाता है। बीच में रात बिताने को एक मित्र के यहां ठहरता है और निश्चय करता है कि नौकरी वह नहीं करेगा। लौटकर गांव जाता है तो पिता का समर्थन उसे नहीं मिलता। पर रवि अपने निश्चय पर अटल रहता है, और फिर जिस प्रकार निरन्तर प्रयत्नों द्वारा गांव भर के जीवन को एक सचमुच के पारिवारिक जीवन के रूप में परिणत करता है, यही शेष उपन्यास की कथा है। कहां तक यह प्रयोग और प्रयत्न सफल हुए, कहना कठिन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया में उड़िया ग्राम-जीवन का सम्पूर्ण रूप उजागर होकर सामने आ गया।

एक महत्वपूर्ण स्थल उपन्यास में वहां आता है जब विवाह के प्रश्न पर रवि अपने पिता के सामने होता है। वास्तव में वहां एक टक्कर दिखाई गई है: दो पीढ़ियों की, दो विभिन्न मूल्य-वर्गों की। एक उनमें से परम्पराओं से बंधी हुई और अनम्य है, दूसरी केवल परम्पराओं के सारभाव को स्वीकार करती है और नमनशील है। ऊपर-ऊपर पिता अडिग हुए रहते हैं, पर भीतर से सारा बल टूट चलता है और फिर तो सामने यही रहता है कि जो पेड़ पुराना है उसका क्षय हुआ करे और नये पौधे फूटते-बढ़ते आयें।

'माटीमटाल' का एक और उल्लेखनीय पक्ष है: उसमें दिया हुआ बाढ़ का वर्णन। यह वर्णन सम्भवतः भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। बाढ़ लाती है विनाश, बरबादी; और उघाड़कर रख देती है मनुष्य के सबसे जघन्य

और निरुपाय-असहाय रूप को। 'माटीमटाल' में यही बाढ़ प्रस्तुत करती है एक अवसर—मनुष्य के श्रेष्ठतम गुणों को विकसित और प्रत्यक्ष करने का।

श्री गोपीनाथ महान्ती को ज्ञानपीठ पुरस्कार दिए जाने का निर्णय लिए जाने से पूर्व ही उपन्यास 20, कहानी संग्रह 10, नाटक 2, निबन्ध संग्रह 2, जीवनी दो खण्डों में, अन्यान्य आदिवासियों की भाषाओं पर आठ पुस्तकें और हिन्दी, बांग्ला, अंग्रेजी में अनूदित चार पुस्तकें महान्ती की श्रेष्ठता का प्रमाण देने को उपलब्ध थी।

☐ यह दूसरा अवसर था जब दो लेखकों को संयुक्त रूप से यह पुरस्कार मिला। गोपीनाथ महान्ती के साथ पुरस्कार के सहविजेता बने कन्नड़ कवि दत्तात्रय रामचंद्र बेंद्रे।

विष्णु सखाराम खांडेकर

जन्म : 19 जनवरी, 1898

स्मृति शेष : 1976

पुरस्कृत कृति : ययाति

भाषा : मराठी

विधा : उपन्यास

पुरस्कार अवधि : 1958 से 1967
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ

पुरस्कार अर्पण : 26 फरवरी, 1976
विज्ञान भवन, नई दिल्ली

पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

दसवां पुरस्कार : 1974

विष्णु सखाराम खांडेकर

विष्णु सखाराम खाण्डेकर का जन्म 19 जनवरी, 1898 को सांगली में हुआ था। अपने पितृव्य द्वारा उन्हें गोद लिये जाने से पूर्व उनका नाम गणश आत्माराम खाण्डेकर था। गणेश खांडेकर मेधावी छात्र थे और 1913 में बम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रिक्युलेशन में अच्छे स्थान पर आये। स्वभावतः इन्होंने आगे पढ़ना चाहा और पुणे जाकर फर्ग्युसन कॉलेज में प्रवेश लिया। किंतु इस बीच इनके पिता दिवंगत हो गये थे और यह पितृव्य की गोद जा चुके थे। पितृव्य को इनके शिक्षण पर व्यय करना निरर्थक जान पड़ा। परिणाम यह कि कॉलेज छोडकर इन्हे घर लौट आना पड़ा। तीन वर्ष कठिन रोगो मे पीडित रहे; फिर स्वस्थ हुए तो घर से 15 मील दूर शिरोद नामक गाव मे 12 अप्रैल, 1920 से स्कूल में अध्यापक हो गये।

नौ वर्ष बाद खाण्डेकर जी का विवाह हुआ। पत्नी थी मनु मनेरीकर। शिक्षिता नही थी, साहित्य के प्रति किसी प्रकार की रुचि भी उनमें न थी; पर कुशल गृहिणी थी। साधनो के सीमित रहते भी आये-दिन की पारिवारिक आवश्यकताओं की ओर से पति को उन्होंने प्रायः सदा निश्चिन्त रखा। 1933 मे अकस्मात् खाण्डेकर जी को एक भयानक विषैले सांप ने डस लिया। इसके कारण इन्हें बहुत अधिक कष्ट सहना पडा और इसका प्रभाव इनके चेहरे पर जीवन पर्यंत बना रहा। शिरोद से यह 1938 में कोल्हापुर आ गये और उसके बाद से यही रहकर प्रसिद्ध फिल्म निर्माता-निर्देशक-अभिनेता मास्टर विनायक के लिए फिल्मी नाटक लिखने मे लग गये। कुछ वर्ष बाद मास्टर विनायक की असमय मृत्यु हो जाने पर उधर से इनकी रुचि हट गयी और फिर यह अपने लेखन-कार्य मे संलग्न हो गये। 1958 मे एक पुत्र और चार पुत्रियां छोड़कर खाण्डेकर जी की पत्नी भी दिवगत हो गयी।

खाण्डेकर जी को प्रतिकूल स्वास्थ्य के कारण जीवन-भर ही कष्ट भोगना पड़े है। 74 वर्ष की आयु में इनकी दृष्टि तक चली गयी थी। मगर फिर भी जीवन पर्यन्त प्रमुख मराठी पत्र-पत्रिकाओं को नियमित रचना-सहयोग देते रहे और साहित्य जगत् की प्रत्येक नयी गतिविधि से सम्पर्क बनाये रखा। अनेक-अनेक पुरस्कार-सम्मान अपने सुदीर्घ और यशस्वी कृती जीवन में इन्होने प्राप्त किये और मराठी साहित्य के विकास मे इनके योगदान को महाराष्ट्र में ही नहीं, भारत के अन्य भागो मे भी स्वीकार किया गया। 'ययाति' के लिए इन्हें साहित्य-अकादमी ने भी पुरस्कृत किया था; बाद में फेलोशिप भी प्रदान की गयी। भारत सरकार ने साहित्यिक सेवाओं के लिए 'पद्म भूषण' उपाधि से अलंकृत किया। ज्ञानपीठ साहित्य पुरस्कार द्वारा सम्मानित होने वाले तो यह प्रथम मराठी साहित्यकार थे ही।

खाण्डेकर जी के लेखों और कविताओं का प्रकाशन 1919 से शुरू हुआ। अपनी उन्हीं दिनो की एक व्यंग्य-रचना के कारण इन्हे मानहानि के अभियोग में फंसना पड़ा, पर उससे सारे कोंकण प्रदेश में यह अचानक ख्यात हो गये। पुणे में जब पढते थे तब इन्हे प्रमुख कवि-नाटककार राम गणेश गडकरी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उन पर इनका एक समीक्षात्मक लेख निकला। उसे पढ़कर तत्कालीन मराठी लेखकों में अग्रगण्य श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर इतने आकृष्ट हुए कि उन्होंने इस युवा लेखक के लिए एक अत्यन्त उज्ज्वल भविष्य की घोषणा की। गडकरी और कोल्हटकर के अतिरिक्त, जिन अन्य मराठी लेखकों का विशेष प्रभाव खाण्डेकर पर पड़ा वे थे गोपाल गणेश आगरकर, केशवसुत और हरि नारायण आप्टे।

शिरोद में जो 18 वर्ष इन्होंने बिताये वे एक अर्थ में निर्णायक सिद्ध हुए। लोगों की भयानक दरिद्रता और अज्ञान का बोध इन्हें वही हुआ। वही रहते गांधीजी की विचारधारा की भी अमिट छाप इन पर पड़ी, जब एक के बाद एक इनके कई मित्र और सहयोगी सत्याग्रह आन्दोलन मे पकड़े गए। तब से निरन्तर ही महाराष्ट्र की उस पीढ़ी के जाग्रत मानस के यह प्रतिनिधि-प्रतीक रहे जिसने गाधीवादी संघर्ष-पद्धति को देखा और उभरती

हुई समाजवादी विचारधारा को पहचाना। इस प्रकार खाण्डेकर भी मराठी लेखक और पाठक जगत् की कई-कई पीढ़ियों की भाव-चेतना को दिशा-रूप देने मे तो समर्थ हुए ही, अपनी कृतियो के अनुवादों के माध्यम से, देश के अन्यान्य भाषा-क्षेत्रों तक भी अपने विचार-प्रभाव पहुंचा सके।

खाण्डेकर जी की लोक-प्रसिद्धि पहले साहित्य-समीक्षक के रूप में हुई। इनका स्वर प्रायः तीखा और परिणाम क्षतिकारी रहता था। धीरे-धीरे संयमता आयी और दोषों को ही उजागर न करके उनके लेख रचना के गुण-पक्ष को भी प्रकट करने लगे। फलतः रचनाकार की अपनी सीमाओं के प्रति सहानुभूति और नयी प्रतिभाओं को पकड़ पाने की क्षमता जग आने से मराठी साहित्य मे इनका एक अपूर्व स्थान बन गया। खाण्डेकर की रचनाओ पर उनके कवि-मानस की उडानें स्पष्ट अंकित हैं। प्रारम्भ में तो यह जैसे अपनी ही सूक्तियों के धाराप्रवाह और उपमाओं क सौन्दर्य मे बह-बह रहते, और जब अपनी भावानुभूतियो को प्रकट करने चलते तो बहुत नाप-तोल भी नहीं रखते थे। पर मराठी भाषा पर इनके आश्चर्यजनक अधिकार को देख-देखकर पाठक जगत् सदा ही चकित और मुग्ध रहा आया।

मराठी साहित्य-मंच पर तीसरे और चौथे दशकों में खाण्डेकर जी का, ना० सी० फड़के सहित, पूरा आधिपत्य रहा। अवश्य, फड़के से भिन्न, इनका आदर्श-वाक्य 'कला कला के लिए' कभी नही हुआ। ये कला और जीवन मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध मानते रहे। इनकी दृष्टि मे कला एक सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा लेखक निखिल मानव समाज की सेवा कर सकता है। खाण्डेकर ने मनोरंजन के उद्देश्य से कभी नही लिखा। जीवन के जुगुप्सित पक्ष को भी अनदेखा नही किया। मानव जगत् का इन्होंने सदा एक ऐसा उज्ज्वल और आशामय चित्र उकेरा है जिसे यह अपनी दृष्टि से अभीष्ट मानते रहे। इस प्रकार एक सुन्दरतम संसार का सपना आंखों मे लिए रहकर भी खाण्डेकर ने उसमें पडकर अपने को औरों की तरह पलायनवादी नही होने दिया। खाण्डेकर अपनी प्रत्येक रचना मे मानो भले और दुष्ट, उचित और अनुचित के चिरन्तर द्वन्द्व से अभिभूत रहे है। कुछ मूलभूत मानवीय मूल्य, जैसे स्वतन्त्रता, समता और न्याय, इनके हृदय

में दृढ़ता के साथ बसे रहे। मनुष्य की सहज त्याग-भावना के लिए भी इनमें बड़ी श्रद्धा रही। यही सब कारण हैं कि इनकी रचनाओं के केन्द्रीय चरित्र सौ आपदाओं-विषमताओं का सामना करके भी उन मूल्यों की मर्यादा बनाये रखते हैं।

खाण्डेकर ने साहित्य की विभिन्न विधाओं का कुशल प्रयोग किया है। इनकी ही लगन और परिश्रमशीलता का फल था कि आधुनिक मराठी लघुकथा एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप मे प्रतिष्ठित हुई और वैयक्तिक निबन्ध को इतना प्रोत्साहन और स्थायित्व मिला। रूपक-कथा नाम से एक नये कहानी-रूप को भी इन्होंने विकसित किया, जो मात्र प्रतीक-कथा या दृष्टान्त-कथा न होकर कुछ और बहुत भी होती है। प्रायः तो वह गद्य के रूप में एक कविता-सी लगती है। उपन्यास-विधा यों अपने में बहुत प्राचीन है; पर खाण्डेकर जी ने जो एक नयी गद्य शैली का संसार उसे दिया उससे यह विधा भी और की और बन उठी है: आलंकारिक होकर भी बोझिल नही होने पायी और काव्यात्मक बनकर भी पाठक के लिए दुर्बोध नही बनती।

खाण्डेकर के इकसठवें वर्ष 1959 में प्रकाशित उपन्यास 'ययाति' मराठी उपन्यास-साहित्य मे एक नयी प्रवृत्ति का प्रतीक बना। इसके द्वारा इतना ही नही स्पष्ट हुआ कि जीवन के अपराह्न काल मे पहुंचकर भी लेखक मे नवसृजन की क्षमता थी, बल्कि और भी कुछ प्रकाश मे आया। उस समय तक मराठी कवि और नाटककार अवश्य अपनी रचनाओं में पुराणकथाओं का उपयोग करते आये थे, पर कथाकारों ने अपने को उस ओर से बचाए ही रखा था। सम्भवतः इनकी धारणा थी कि आधुनिक उपन्यास के लिए जिस यथार्थवादिता और आत्मीयता के भाव की आवश्यकता है उसके लिए उन कथाओं का आधार पुरातन भी रहेगा और दूरस्थ भी। किन्तु खाण्डेकर की, औरों से भिन्न, प्रतीति यह थी कि उपन्यास के माध्यम से यदि समसामयिक वास्तविकता के चित्र मात्र से कुछ अधिक देना है और युग की पीड़ा और अशान्ति के प्रति आज के लेखक की चिन्ता-भावना को अभिव्यक्त करना है, तो उसका उपयुक्त साधन-संवाहक पौराणिक कथा ही हो सकती है।

इस सन्दर्भ मे इस उपन्यास के प्रमुख चरित्र—देवयानी, ययाति, शर्मिष्ठा और कचदेव—अनिवार्य रूप से कुछ विशेष मूल्यों के प्रतीक बन उठते है। मनुष्य के रूप और भावों की समूची स्वर-सप्तकी इनमे मुखरित होती है · स्वार्थमूलक भोगवृत्ति भी और परलोकमुखी परोपकार-भावना भी। किन्तु यह सब होते भी अपनी मानवीयता और वैयक्तिकता को वे बनाये रखते है। अपवाद केवल कचदेव होता है जो प्रत्यक्ष ही उस नये मानव का प्रतीक है जिसका चित्रण खाण्डेकर ने अपने प्रत्येक उपन्यास में करना चाहा है। ययाति प्ररूप है आज के युग मे हो आये मनुष्य के रूप का। सांसारिक सुख-भोगो की लिप्सा और अतृप्त काम-भावना ने उसके सारे जीवन को दुखी और दयनीय बना डाला है। पुरस्कार-जेता उपन्यास मानवीय अभिप्रेरण के मूलभूत संवेगों की खोज पाने के एक सच्चे और सफल प्रयास को प्रतीकित करता है।

खाण्डेकर जी ने मराठी साहित्य के जरिए ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व तक भारतीय साहित्य को बारह उपन्यास, ढाई सौ कहानियां, एक नाटक, दो अनुवाद, अठारह पट-कथाएं, डेढ़ सौ निबन्ध, इतनी ही समीक्षात्मक टिप्पणियां, रूप कथाएं दीं और कई इतर मराठी पुस्तकों को मराठी में अनूदित किया।

- ☐ श्री खांडेकर को पुरस्कार समर्पित किया था श्रीमती महादेवी वर्मा ने जो स्वयं भी बाद में ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता हुई। ज्ञानपीठ का अठारहवां पुरस्कार उन्हें समर्पित हुआ।
- ☐ श्री खांडेकर को पुरस्कार दिए जाने का अवसर वह पहला अवसर था जब इस पुरस्कार की संस्थापिका श्रीमती रमारानी जैन समारोह में उपस्थित नहीं थी। समारोह से कुछ काल पूर्व उनका देहावसान हो गया था।

पे० वै० अखिलंदम्

ख्यातनाम : अखिलन
जन्म : 1923
स्मृति शेष : 1988
पुरस्कृत कृति : चित्तिरप्पावै
भाषा : तमिल
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : 1959 से 1968
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 17 दिसंबर, 1977
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

ग्यारहवां पुरस्कार : 1975

पे० वै० अखिलंदम्

अखिलन ने जीवन का आरम्भ देश के एक निरे सामान्य नागरिक के रूप मे किया। छोटा-सा गांव था पेरुंगलूर जहां 1923 में वे जनमे। पिता फॉरेस्ट रेंजर थे और स्वभावतः उनकी बड़ी साध थी कि बेटा आई सी एस बने। काश उन्हें कल्पना भी होती कि बेटे के नक्षत्रों ने उसके लिए एक और ही कहीं अधिक यशस्कर भविष्य संजो रखा है। सचमुच किशोर वय से ही अखिलन का स्वयं अपना रुझान न केवल किसी बड़े पद के प्रति न था बल्कि ऊंची शिक्षा तक के प्रति न था। चौथी कक्षा में थे अखिलन जब 1938 में अचानक पिता-विहीन हुए और अर्थकष्ट और निराशाओं ने उन्हें चारों ओर से घेरा। इन दिनों की अनुभूतियां प्रेरणा बनी और 1939 मे उनकी सबसे पहली कहानी 'अर्थकष्ट से मृत्यु' प्रकाश में आयी।

कुछ दिन बीते कि महाकवि भारती, श्री कवि और बंकिम की रचनाओ ने उनके मानस मे राष्ट्रीयता की चिनगी छिटका दी। परिणाम यह कि 1940 मे मैट्रिक्युलेशन करते ही उनका अनिवार्य धर्म गांधीजी की पुकार पर स्वतन्त्रता-सग्राम मे भाग लेना बना। अपने मित्रों के सहयोग से उन्होने एक 'शक्ति युवा संघ' बनाया और जी जान से आन्दोलन मे कूद पड़े। 'भारत छोड़ो' की ललकार गूंजी तो अखिलन ने मुक्त भाव से सरकार-विरोधी कहानियां लिखना शुरू कीं, मगर किसी पत्र-पत्रिका को साहस न हुआ कि एक को भी प्रकाशित करे। थोड़े समय बाद वह 'इन्बम्' नामक एक नयी पत्रिका से सहायक सम्पादक के रूप में सम्बद्ध हो गये, पर अपने विचारों के कारण बहुत दिन टिके न रह सके।

बाद को 1945 मे वह रेलवे मेल सर्विस में सॉर्टर के काम पर नियुक्त हुए। यही काल था उनके जीवन का जब उन्होंने 'पेन' शीर्षक अपना पहला उपन्यास लिखा। प्रतिष्ठित तमिल मासिक 'कलैमगल' ने इसे प्रतियोगिता

में प्रथम स्थान देकर पुरस्कृत किया। अखिलन तब 23 के थे। उनके इस उपन्यास की कथावस्तु में, सच तो, पिता की वह साध ही प्रतिमूर्त हुई थी जो उन्हें एक बड़े आई सी एस ऑफिसर के रूप में देखने की थी। यहां उपन्यास का नायक अपनी नवोढा पत्नी और उसके पिता के निरन्तर आग्रह पर इंग्लैण्ड जाता है और आई सी एस में चुन लिया जाता है, किन्तु भारत लौटकर आने पर उस डिग्री की चिन्दियां करके वह हवा में उड़ा देता है और देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेता हुआ जेल चला जाता है। पैंतालीस वर्ष पूर्व प्रकाशित इस लघु उपन्यास के हिन्दी, बांग्ला, कन्नड, मलयालम आदि कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद निकले।

कलैमगल पुरस्कार से सदा के संकोची और लजालु अखिलन के आत्म-विश्वास को बढ़ावा मिला। और अपनी सामर्थ्य से अवगत होने पर उन्हें एक अपूर्व बल की प्रतीति हुई। वास्तव में कलैमगल सम्पादक श्री कि. वा. जगन्नाथन ने उनकी प्रतिभा को सर्वप्रथम पहचाना और उन्होंने ही अखिलन के भीतर गुप्त पड़ी सृजन-शक्ति को उकसावा दिया। फिर तो प्रकाश की किरणें फूटती चली आयीं और जो आलोक और ऊष्मा लोकमानस को प्राप्त हुई उसने जहां एक ओर हार्दिकता और सहानुभूति की भावनाओं को प्रोत्साहन दिया वहीं दूसरी ओर बुराइयों को छार-खार कर सकने का उत्ताप भी मन में जगाया।

देश के 1947 में स्वतन्त्र होने के बाद अखिलन का तेनकासी से तिरुच्चिराप्पल्ली को स्थानान्तरण हुआ। दस वर्ष उन्होंने यहां सॉर्टर का काम किया। दौड़ती ट्रेनों में कभी दिन को तो कभी रात को डाक की सॉर्टिंग जैसा उबाने-थकाने वाला काम करते होते भी, अखिलन की आन्तरिक लगन ही थी जो वे साहित्य-सृजन के लिए फिर भी समय और साहस जुटा सके। वस्तुतः जो सब भीतर उमड़ा करता वह अदम्य था। इसके अतिरिक्त, सारे-सारे समय वह भले ही सॉर्टिंग में लगे रहते, फिर भी नये-नये स्थान और प्रकार-प्रकार के लोग देखने में आते ही। यों नित नयी अनुभूतियां होतीं और अखिलन के अन्तर्जात सृजेता शिल्पी के विचार-चिन्तन में घुल-मिल जातीं और बन उठतीं साहित्य-सृजन की प्रेरणा।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान देश की स्वाधीनता के लिए जो सशस्त्र संघर्ष

और युद्ध नेताजी सुभाष बोस ने अंग्रेजी सेनाओं के साथ वर्मा और मलेशिया मे किया उसके प्रति अखिलन के मन में विशेष लगाव और आदरभाव था। आई एन ए के अनेक सैनिकों और सेनानायकों से उनके घनिष्ठ संबंध भी थे। अखिलन की भावनाओं और पीड़ाओं ने अभिव्यक्ति पायी 'नेंजिन अलैगल' मे। उनका यह उपन्यास 1951 मे प्रकाशित हुआ और 1955 में तमिल अकादमी पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ। दो वर्ष बाद 'वापवु एंगे' प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास जाति-भेद की समस्या को लेकर लिखा गया था और कुछ दिनो बाद इसे फिल्म का रूप भी दिया गया।

सब मिलाकर बारह वर्ष से कुछ अधिक रेलवे मेल सर्विस मे अखिलन रहे। इस बीच उपन्यास और कहानी-संग्रह मिलाकर उनकी बीस कृतियां प्रकाश में आयी। किस प्रकार एक के बाद दूसरी कृति उनकी ख्याति और प्रतिष्ठा को बढ़ाती जाती थी, इसे देखने-जानने की उन्हें कभी चिन्ता ही न हुई। पर 1954 मे हुई एक घटना ने उन्हे बाध्य कर दिया। हुआ यह कि कोई महाशय स्वयं अखिलन बनकर जगह-जगह गये और स्वागत-सत्कार और आदर-भेंटें बटोरते रहे। अखिलन की जानकारी में बात आयी तो उन्हें सामने आना पडा और उस छलिये को न्यायालय मे दण्ड मिला।

धीरे-धीरे आर० एम० एस० का काम अखिलन को अखरने लगा और 1954 में, जिन दिनो वे 'पावै विलक्कु' लिखने में लगे थे, नौकरी से उन्होंने हठात् त्यागपत्र दे दिया। तभी वे त्रिची से मद्रास भी आ गये। कितने ही साहित्य-मर्मियो के मत से 'पावै विलक्कु' और 'चित्तिरप्पावै' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएं हैं। 'चित्तिरप्पावै' के कारण तो उनका नाम तमिलनाडु के घर-घर ही नहीं, श्रीलंका और मलेसिया और सिंगापुर मे बसे लाखों तमिलभाषियों तक भी पहुंचा। अखिलन के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की छवि उनकी ही किसी एक कृति में अंकित हुई है तो वह 'चित्तिरप्पावै' में।

अखिलन ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। 1961 में आया 'वेंगैयिन मैन्दन' उनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास है जिसे 1963 में साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया। 1965 मे फिर 'कयल विपि' निकला; इस पर उन्हें 1968 मे तमिल विकास परिषद का पुरस्कार मिला। ऐतिहासिक वर्ग का अखिलन का तीसरा उपन्यास है 'वेत्री तिरुनगर' जो

1966 में प्रकाशित हुआ।

'एंगे पोगीरोम' (1973) एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें समाज और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, न्याय एवं नैतिकता-प्रिय लेखक की प्रतिक्रिया का चित्रण किया गया है। अखिलन को इसी पर 1976 में राजा अण्णमलै चेटियार पुरस्कार मिला।

अखिलन को अनेक बातों मे सर्वप्रथमता का गौरव मिला है। वह सर्वप्रथम तमिल लेखक हैं जिन्हें सोवियत संघ के बुलावे पर 1973 में कजाकिस्तान की राजधानी अल्मा-अता में हुए 'ऐफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन' में भारतीय शिष्टमण्डल के सदस्य बनकर सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। दो वर्ष बाद मलेसियन तमिल लेखकों के आग्रह पर उन्हें कुआलालम्पुर में आयोजित लेखक सम्मेलन में भाग लेने के लिए जाना पड़ा। यहां विभिन्न नगरों में उनका स्वागत-सम्मान किया गया और 'चिन्दनैक्कलैंज्ञियम्' अर्थात् चिन्तन-कला-धनी, उपाधि से उन्हें विभूषित भी किया गया। वहीं सर्वप्रथम इन्हें अवसर मिला कि रबर के बागानों में काम करने वाले तमिल भारतीयों की दुरावस्था को अपनी आंखों देख सकें। इतने द्रवित हुए सब देख-जानकर अखिलन कि उन्हो पर 'पाल मरक्काट्टिनिले' शीर्षक से उपन्यास लिखा।

कहने को अखिलन का लक्ष्य अपने सृजन से लोकमानस तक गांधीजी के विचार आदर्शों को पहुंचाना रहा है। यही अपनी कृतियों के द्वारा वह करते भी आये।

'चित्तिरप्पावै' तमिल गद्य की काव्यमयता का तो सुन्दर उदाहरण है ही, आधुनिक तमिल उपन्यास साहित्य के प्रौढ़ता प्राप्त करने का प्रतीक भी माना जाता है। लेखक ने यहां आदर्शवादी चित्रकार अन्नामलै और उसकी चिर-प्रशंसिका, भारतीय नारीत्व का मूर्त रूप, आनन्दी के जीवन और संघर्षों का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। अन्नामलै की सहज मानवीयता और पावन सौन्दर्यबोध से प्रभावित हो आनन्दी उसके प्रति हृदय से अनुरक्त है। आनन्दी को पिता की आशिष भी प्राप्त है। किन्तु विवाह-सूत्र में उसे बंधना पड़ता है माणिक्कम् के साथ, जो एक चरित्र-शून्य व्यक्ति है और जिस किसी भी प्रकार से दोनों हाथों धनलाभ करना ही जिसका एकमात्र

लक्ष्य है।

माणिक्कम् औरों के मूल्य पर उत्कर्ष की सीढ़ियां चढ़ता है; दूसरे के घरों की नीवों पर अपने महल-दुमहले खड़े करता है। पर तब उसकी चरित्र-शून्यता का लाभ लेकर वैभव के सारे पार्षद व्यसन उस पर और घने होकर छाते है फिर अन्त को वह क्षण आता है जब पत्नी आनन्दी का सौभाग्य-चिह्न 'मंगलसूत्र' उसके हाथों झटका खाकर टूटता है और आनन्दी बन्धन-मुक्त हो जाती है। मंगलसूत्र का टूटना और परिणामतः आनन्दी का विवाह-बन्धन से अपने को मुक्त समझना वास्तव मे एक प्रतीक है उस क्रान्ति-संदेश का जो इस उपन्यास के माध्यम से अखिलन युग और समाज को देना चाहते है। माणिक्कम् से मुक्त होकर आनन्दी नया जीवन शुरू करती है: अपने को अन्नामलै के साथ परिणय-सूत्र में पिरोकर।

अखिलन की इस अनूठी कृति का भावसार है: कला मनुष्य के जीवन से भिन्न नही होती, उसमें अंगभूत हुई रहती है। कला मनुष्य को अपनी नैतिक निष्ठाए स्थिर करने, अपने समूचे व्यक्तित्व का निर्माण करने में साधन और सहारा बनती है। एक स्थल पर लेखक के शब्द हैं: "अपने निजी जीवन को भीतर से सुन्दर बनाओ, सहज सरल और सत्यता का प्रति-रूप बनाओ और इस ध्येय को साकार करो कि माधुर्य से घर भरा हो, विशाल हृदयता से समाज, एवं यथार्थ मानवीयता से मानव जगत!"

ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व श्री अखिलन बीस उपन्यास, पन्द्रह कथा-संग्रह, पांच निबन्ध-संग्रह, चार बालोपयोगी रचनाओं के संकलन और एक नाटक के जरिए तमिल साहित्य मे अपना महत्वपूर्ण योगदान कर चुके थे।

आशापूर्णा देवी

जन्म : 8 फरवरी, 1909
पुरस्कृत कृति : प्रथम प्रतिश्रुति
भाषा : बांग्ला
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : 1960 से 1969
के बीच प्रकाशित साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 26 अप्रैल, 1978
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

बारहवां पुरस्कार : 1976

आशापूर्णा देवी

आशापूर्णा देवी का जन्म 1909 में हुआ। मात्र 13 की थी वे जब लिखना प्रारम्भ किया। तब से ही उनकी लेखनी निरन्तर सक्रिय बनी हुई है। वे एक मध्यवर्गीय परिवार की है। पर स्कूल-कॉलिज जाने का सुअवसर उन्हें कभी नही मिला। उनके सारे परिवेश में उन सब निषेधों का भी बोल-बाला था जो उस युग के बंगाली जीवन को आक्रान्त किये हुए थे।

क्योंकर फिर इतनी उच्चकोटि की लेखिका बन सकी वे? केवल इस-लिए ही नहीं बन सकीं कि 'किसी सम्पादक ने उनकी रचना को कभी भी लौटाया नहीं,' बल्कि मुख्यत: इसलिए कि पढ़ने-सुनने और अपने विचार व्यक्त करने की भरपूर सुविधाएं उन्हे प्रारम्भ से ही उपलब्ध हुई, अर्थात् 'उपयुक्त वातावरण' की घर मे कमी नही थी। पिता कुशल चित्रकार थे, मां बांग्ला साहित्य की अनन्य प्रेमी और तीनों भाई कॉलिज के छात्र। स्व-भावत: उस समय के जाने-माने साहित्यकारों और कला-शिल्पियों को निकट से देखने-जानने के अवसर आशापूर्णा को आये दिन मिले।

कौन आश्चर्य कि ऐसे परिवेश में उनके मानस का ही नही, कला-चेतना और संवेदनशीलता का भी भरपूर विकास हुआ, भले ही पिता के घर भी और पति के घर भी परदे आदि के बन्धन बराबर रहे। कभी घर के किसी झरोखे से भी यदि बाहर के संसार की झलक मिल गयी तो उनका सजग मन उधर के समूचे घटनाचक्र की रूप-कल्पना कर लेता। इस प्रकार देश का स्वतन्त्रता संघर्ष, असहयोग आन्दोलन, राजनीति के क्षेत्र में नारी का पदार्पण, और फिर पुरुष वर्ग की समकक्षता के दायित्वों का निर्वाह : सभी कुछ उनकी भाव-चेतना पर अंकित हुआ, और हर बार एक कचोट के साथ उन्होने मन में सोचा : "ये नारियां सचमुच देवी है जि बन्धनों से मुक्त हो आयी !"

यथासमय उन्हें समकालीन बांग्ला उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में

गौरवपूर्ण स्थान मिला। कितना विपुल है कृतित्व उनका यह इसी से प्रकट है कि लगभग सवा दो सौ कथाकृतियां हैं उनकी जिनमें एक सौ से अधिक उपन्यास हैं! इस असाधारण उपलब्धि के बाद जो कचोट अब उनके जी मे जब-तब साल उठती है वह उस पहली से सर्वथा भिन्न है। आज तो वे सोचती है कि "जीवन और जगत् का सभी कुछ अब नारी को प्राप्त है; पर जितना-जितना उसने पाया है उसके अनुपात मे अपनी ओर से भी वह दे सकी है क्या? पुरुषवर्ग के समकक्ष हो सकने मे ही उसकी सार्थकता हो गई क्या?"

आशापूर्णा की लेखन-सफलता का रहस्य बहुत कुछ उनके शिल्प-कौशल में है, जो नितान्त स्वाभाविक तो है ही, उसमे अद्‌भुत दक्षता भी उन्होंने प्राप्त की है। उनकी यथार्थवादिता, शब्दों की मितव्ययिता, सहज सन्तुलित मुद्रा और 'बात को तद्‌वत् कह देने की क्षमता' ने उन्हें और भी विशिष्ट बना दिया है। उनकी अवलोकन-शक्ति न केवल पैनी और अन्तर्गामी है, आसपास के सारे ब्योरों को भी अपने में समेट लाती है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव-रेखाएं उनके चित्त पर अंकित हो रहती हैं और फिर वे बड़ी कलात्मकता से साथ उन्हें ज्यों-का-त्यों उरेह भी देती है।

वे जैसे पाठकों के लिए धीरे-से-एक दरीची खोल देती हैं कि वे सब भी प्रत्यक्षदर्शी बन सकें। एक ही झलक वे देंगी, पर ऐसा क्षण चुनेंगी कि पाठक उसकी सघनता से अभिभूत हुआ रह जाए और नयी ही दिशाओं में सोचने को विवश हो। उनकी रंग-रेखाएं सदा मृदुल हुआ करती है, पर कोई जो चरित्र-चित्रण कहीं अस्पष्ट रहता हो। आघात भी कही पहुचाना होता है वह भी प्रभाव किये बिना नही रहता। उनकी रचनायें निरपवाद रूप से इतनी उत्कृष्ट होती हैं कि उनका प्रभाव चिरकाल तक बना रहता है।

मानव के प्रति आशापूर्णा का दृष्टिकोण किसी विचारधारा या पूर्वग्रह से आच्छादित नही है। सच तो किसी घृण्य चरित्र का रेखांकन करते समय भी उनके मन में कोई तिक्तता, दुर्भावना या अमर्ष नही हुआ करता। मुख्य कारण यह कि वे मूलतः मानवप्रेमी है। उनकी रचनागत सशक्तता का स्रोत ही है परानुभूति भाव, मानव जाति के प्रति हार्दिक संवेदना।

उनकी मान्यता है कि "जितनी जमा-पूंजी लेकर मनुष्य जनमता और धरती पर जिया करता है वह इतनी कम रहती है कि जरा-सी भी और पाने के लिए किसी को आघात पहुंचाते उसे सकोच नही होता। वह वंचित है: इसीलिए लालची है, आक्रामक हो जाता है।"

उनकी निश्चित धारणा है कि मनुष्य स्वयं अपने में बुरा नही हुआ करता, जो भी विकृतियां उसमे आती है वे परिस्थिति-परिवेश के कारण और मानवीय सम्बन्धो मे सवेदनशीलता के अभाव से। वे बडी दृढता के साथ कहती आयी है कि: "आज हम भले ही स्वर्ग-भ्रष्ट हुए बैठे हो पर यह साहित्य का दायित्व है कि सब पुनर्प्रतिष्ठित हो। लेखक का कर्तव्य है कि जो स्थान-च्युत है उनके लिए प्रेम और सौन्दर्य के आलोक-लोक की उपलब्धि कराये।" और इस सन्दर्भ मे आशापूर्णा ने समाज के मिरजे मानदंडो को बार-बार ललकारा है, उनकी युक्तियुक्तता पर प्रश्नचिह्न लगाया है।

आशापूर्णा निस्सन्देह विद्रोहिनी है। विद्रोह: रूढ़िबन्धनो से, काल-जर्जर पूर्वाग्रहो से, समाज की चिरसचित अर्थहीन परम्पराओं से, और उन नाना अवमाननाओ से जो नारी पर पुरुषवर्ग द्वारा, स्वयं नारियों द्वारा, और समाज-व्यवस्था द्वारा लादी गयी। उनकी उपन्यास-त्रयी—प्रथम प्रतिश्रुति, सुवर्णलता, और बकुलकथा—की रचना ही उनके इस सघन विद्रोह भाव को मूर्त और मुखरित करने के लिए हुई है। उनके विद्रोह का लक्ष्य वह समूची समाज-व्यवस्था है जो समय के बीत जाने पर ध्यान नही देती, नये मूल्यो को स्वीकार नही करती, और उस सहज सत्य तक को समझने की पहल नही करती कि यथोचित परिवर्तन एक मूलभूत आवश्यकता है मनुष्य की, मनुष्य के जीवन की।

पर आशापूर्णा यही पर विराम नही ले लेती। उनका विद्रोह आज की व्यापक व्यवस्थाहीनता से भी है, सारी अनुशासनहीनता और निर्नैतिकता से भी है। किसी विचारधारा विशेष से जुडा हुआ नही है उनका विद्रोह भाव; वे उस प्रत्येक बात के विरुद्ध है जो मानव जीवन के लिए हितकर नही रही, नही होगी। साथ ही वे अविवेकी परिवर्तन के भी विरुद्ध है, विशेषकर जहां सन्दर्भ मानव-मूल्यों का हो। क्योंकि तब जैसे दो पीढिया एक-दूसरे को दो ध्रुवो से देखती खड़ी होगी और दोनों के बीच संवाद-

समर्पित करती है जो ख्याति-लब्ध नहीं, सीधी-सादी और अनामा हैं, किन्तु जिन्होंने अकथ मर्माघात और दुर्लघ्य बाधाओं को झेला और मानवीय अन्तःशक्ति की, क्षमताओं और सम्भावनाओं की, प्रथम प्रतिश्रुति प्रस्तुत की।

1964 मे जैसे ही 'प्रथम प्रतिश्रुति' उपन्यास प्रकाशित हुआ कि बाग्ला साहित्य जगत् में एक हलचल-सी मच गयी। एक स्वर से उसका सभी ने स्वागत किया और उस वर्ष के टैगोर-पुरस्कार द्वारा आशापूर्णा को सम्मानित किया गया। इस वृहद्काय रचना मे लेखिका ने चरित्रों और घटनाओ के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक बंगाली समाज के क्रमिक विकास का चित्रांकन किया है। प्रचलित प्रथाओं, धार्मिक परम्पराओं, सामाजिक मूल्यो, नैतिक मानदण्डों, और घर एवं समाज में नारी की स्थिति सम्बन्धी जितने और जैसे विवरण इसमें दिये गये हैं, उनके कारण यह और भी महत्त्वपूर्ण हो उठी है।

टैगोर पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार के अतिरिक्त आशापूर्णा देवी को लीला पुरस्कार मिला है। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें भुवन-मोहिनी स्वर्णपदक भेंट किया और तमिल लेखक संघ एवं पजाबी लेखक समाज ने उन्हे सार्वजनिक सम्मान दिया। 1976 में उन्हे 'पद्मश्री' उपाधि से विभूषित किया गया। आशापूर्णा देवी ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने से पूर्व लगभग 120 उपन्यास, 25 कहानी संग्रह और आधा दर्जन अन्य संकलनों का सृजन कर बांग्ला साहित्य में श्रीवृद्धि कर चुकी थी।

- ☐ आशापूर्णा देवी बांग्ला के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली तीसरी साहित्यकार हैं। इनसे पूर्व बांग्ला के लिए ताराशंकर बंद्योपाध्याय ने 1966 का दूसरा पुरस्कार और विष्णु दे ने 1971 का सातवां पुरस्कार प्राप्त किया था।
- ☐ ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली प्रथम महिला कथाकार होने का गौरव मिला आशापूर्णा देवी को।

के० शिवराम कारन्त

जन्म : 10 अक्तूबर, 1902
पुरस्कृत कृति : मूकज्जिय कनसुगलु
भाषा : कन्नड़
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : 1961 से 1970
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 20 जनवरी, 1979
बिड़ला मातुश्री सभागार, बंबई
पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

तेरहवां पुरस्कार : 1977

ने उन्हें डी. लिट्. की उपाधि से विभूषित किया।

कारंत ने अपनी पैनी दृष्टि से बहुत पहले ही भांप लिया था कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में कहां-कहां क्या कमी और दोष हैं और फिर अवसर आते ही अपनी विचार-कल्पनाओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए वे स्वयं पाठ्य-पुस्तकें लिखने और शब्दकोशों तक को तैयार करने में जी-जान से जुट पड़े। कोशों के निर्माण क्षेत्र में अग्रणी और पथ-प्रदर्शक होने का गौरव तो उन्हें मिला ही, उनकी इन रचनाओं ने यह भी प्रत्यक्ष कर दिया कि बालक और तरुण दोनों के ही मन की उन्हें कितनी सच्ची परख-पहचान है और कितनी सफलतापूर्वक वे अपने को दोनों के लिए ग्राह्य बना सकते है।

कुछ वर्षों से कारंतजी कला जैसे अनेकरूप और गूढ़ विषय पर लिखने मे लगे हुए हैं। प्रारम्भ उन्होंने कर्नाटक कला से किया, अब विषय-क्षेत्र सम्पूर्ण-विश्वव्यापी कला हो उठा है। इस दिशा मे उन्होंने गम्भीर और व्यापक अध्ययन ही नहीं किया है, लाठी और झोला लिऐ हुए देश-देश मे घूमते फिरे हैं और काल-काल की कलाकृतियो को, अपनी पारखी आंखों देखा है और समझा है। कारंतजी भारतीय कला, स्थापत्य और मूर्तियों की विशिष्टता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका मूल्यांकन विश्व-कलाकृतियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जाना उचित समझते है। देश में कम ही विद्वान हैं जिन्हें कला-विषयक इतना ज्ञान हो जितना इन्हें है, और इनके समान अधिकार पूर्वक बोलने और विवेचन कर सकनेवाले तो प्राय: नहीं ही हैं।

अपने कलाविषयक ज्ञान और आधिकारिकता के ही बल पर कारंतजी ने यक्षगान के अन्तरंग में प्रवेश करने का साहस किया। इस क्षेत्र में उनका योगदान उतने ही महत्त्व का माना जाता है जितना कथकली के क्षेत्र मे महाकवि वल्लतोल का। कारंतजी ने अपनी गम्भीर एवं सुविस्तृत शोधों और तदनुरूप कल्पनाशक्ति के समायोग से यक्षगान कला को नये आयाम भी दिये हैं और साथ-के-साथ उसे अधिक व्यापक, अधिक व्यावहारिक होने योग्य भी बनाया है।

उन्होने नौ-नौ घण्टे के मूल लोक-नाटकों के स्थान पर दो-दो घण्टे के नृत्य-नाटक रखे हैं, भाषा-सीमा के परिहार में संवादों को हटा दिया है, और विषय और दृश्यों के साथ संगीत-नृत्य की गतिलय को ऐसे मुग्धकर रूप में

एकमेक किया है कि मन पर देर-देर बाद तक प्रभाव छाया रहता है। ये नृत्यनाटक कारंतजी की कला-क्षमता और सृजन-शक्ति के ही साक्ष्य नहीं हैं, उनकी आन्तरिक आधुनिकशीलता और देश के वर्तमान कला-सन्दर्भों में उनकी विचारदृष्टि की सुसंगतता के भी सूचक हो जाते हैं।

कारंतजी के रचे बाल-साहित्य को भी यदि सम्मिलित करें तो उनकी सब कृतियों की संख्या 200 बैठेगी। उनके लेखन का प्रारम्भ नाटकों से हुआ। अनेक रूप और प्रकार के थे ये, पर गांधीजी के विचारादर्शों से संप्रेरित सुधारवाद का स्वर प्रायः सभी में मुखर हुआ। किन्तु आगे चलकर, जैसा एक स्थान पर कारंतजी ने स्वयं व्यक्त किया है,"मैंने जब इनके फल-स्वरूप किसी को भी सुधरते नहीं पाया तो व्यर्थ समझकर नाटक लिखना छोड़ दिया।"

अच्छा भी हुआ यह ! इसके बाद से फिर उन्होंने अपना ध्यान व्यथित मानव और उसकी स्थिति-परिस्थिति को देखने-समझने की दिशा में सकेन्द्रित किया। अपने इस अवलोकन में सबसे अधिक जिस बात से वे प्रभावित हुए वह थी बड़ी-से-बड़ी दुखद घटनाओं के बीच भी बनी रहने-वाली मनुष्य की सहज जिजीविषा। अवश्य, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हुए मूल्यों के ह्रास के प्रति उनके मन में घनी पीड़ा है; किन्तु फिर भी वे अडिग आशावादी हैं, क्योंकि मानव की स्वभावगत करुणा और सहानुभूति भावना में उनकी आस्था अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है। उनकी दृष्टि में अधिक महत्व इस बात का नहीं होता कि चिरन्तन सत्यों की अन्तिम क्षण तक रक्षा नहीं की गयी, बल्कि इसका होता है कि संकट की घड़ियों में भी उन्हें त्यागा नहीं गया।

लेखन के अपने प्रारम्भिक काल में कारंतजी ने 'झूठे देवी-देवताओं' के विरोध में आवाज उठायी थी। किन्तु समय के साथ-साथ उनका भाव यह हो चला कि परम्परा कितनी भी पुराणपन्थी क्यों न हो, उसे अपने स्थान पर बना रहने देना चाहिए यदि वह विकास में सहायक होती हो। इस प्रकार, उपन्यासकार के रूप में कारंतजी का ध्यान जन-मानव की आस्थाओं, विचार-धारणाओं, तथा उसे क्रियाशील बनानेवाली अन्यान्य भावनाओं के अध्ययन-विश्लेषण की ओर अधिक सकेन्द्रित हुआ है। उनकी मान्यता है

कि आज के सन्दर्भों में जनमे हुए और जीनेवाले व्यक्ति का जीवन स्वाभावत: सरल नही हो सकता; उसके ऊपर अनेक-अनेक भीतरी और बाहरी स्थितियों का दबाव रहता है। कारंत मानवीय करुणा और सहानुभूति भावना को मनुष्य का सहज और विशिष्ट गुण मानते है। इसीलिए उनका कोई उपन्यास नही है जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे इस भावधारा के दर्शन न होते हों।

पुरस्कार-जयी उपन्यास 'मूकज्जिय कनसुगलु' मे कारंतजी ने अन्वेषण की एक सर्वथा नयी और विराट् यात्रा-दिशा ग्रहण की है। उनका उद्देश्य पुस्तक के माध्यम से प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक की मानव-मभ्यता का परिचय देना रहा है। उन्होंने इसलिए सुविधा की दृष्टि से एक ऐसी विधुरा वृद्धा की कल्पना की है जिसकी कुछ अधिमानसिक संवेदनाएं जाग्रत हैं। वे इस कृति के द्वारा यह प्रमाणित करना चाहते है कि ईश्वर-सम्बन्धी मनुष्य की धारणा इतिहास में निरन्तर बदलती आयी है और सेक्स जैसी जैविक प्रवृत्तियां इतना अनिवार्य अंग है जीवन का कि 'वैराग्य धारण' के नाम से उनकी वर्जना सर्वथा अयोग्य है।

यह वृद्धा महिला, देश के प्राचीन मूल्यो के प्रतिनिधि-रूप, एक अश्वत्थ वृक्ष के तले बैठी हुई अपने पौत्र को, अर्थात् हम सभी को, दूर सुदूर अतीत का चित्र दर्शन कराती है और इस प्रकार मिथ्यात्व और छलनाओं के आवरण को उघाड़ देती है। प्रत्येक प्रसंग में उनका बल एक ही बात पर होता है, कि हम जीवन को, जैसा वह था और जैसा अब है, सबको एक साथ लेते हुए सम्पूर्ण रूप में देखें। उसकी सहानुभूति नागी के प्रति उमड़ती है जो दुखिया है और पुरुषवर्ग द्वारा सताई हुई है। आदि से अन्त तक इस उपन्यास मे एक साथ दो काल-छोरों को हाथ में रखकर कारंतजी ने अपना वक्तव्य मूकज्जी के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

16 नाटक, 33 उपन्यास, 3 कहानी संग्रह, 2 जीवनियां, दो खण्डों में आत्मकथा, 5 यात्रावृत्त की पुस्तकें, 9 कला विषयक पुस्तकें, 12 विश्व-कोश-शब्द कोश, विज्ञान विषयक और 8 विविध रचनाओं की पुस्तकें ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा से पूर्व ही शिवराम कारंत के जरिए कन्नड़ साहित्य को प्राप्त हो चुकी थी।

- ☐ कन्नड़ के लिए स्वतंत्र रूप से अकेले ही ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने का पहला अवसर श्री कारंत के जरिए आया।
- ☐ *यों कन्नड़ के लिए कारंत से पूर्व यह गौरव कु० वें० पुट्टप्प* (तीसरे पुरस्कार के सहविजेता) और द० रा० बेन्द्रे (नौवें पुरस्कार के सह-विजेता) प्राप्त कर चुके थे।
- ☐ कुवेंपु के सहविजेता थे गुजराती कवि उमाशंकर जोशी।
- ☐ बेन्द्रे के सहविजेता थे उड़िया उपन्यासकार गोपीनाथ महान्ती।
- ☐ कवि कारंत को ज्ञानपीठ पुरस्कार बिडला मातुश्री सभागार, बंबई में समर्पित किया गया। यह पहला अवसर था जब पुरस्कार समारोह दिल्ली से बाहर आयोजित हुआ।

स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

जन्म : 7 मार्च, 1911

स्मृति शेष : 4 अप्रैल, 1987

पुरस्कृत कृति : कितनी नावों में कितनी बार

भाषा : हिन्दी

विधा : कविता

पुरस्कार अवधि : 1962 से 1971

के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ

पुरस्कार अर्पण : 28 दिसंबर, 1979

कला मंदिर, कलकत्ता

पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

पुरस्कार राशि से 'वत्सल निधि'

संस्था की स्थापना की

चौदहवां पुरस्कार : 1978

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म फाल्गुन शुक्ल सप्तमी संवत् 1967 (विक्रमाब्द) तदनुसार 7 मार्च, 1911 को कुशीनगर के खुदाई शिविर में हुआ। पिता पं० हीरानन्द शास्त्री भारत पुरातत्त्व विभाग में प्राचीन लिपियों के विशेषज्ञ थे और भारत के पुरातत्त्व विभाग की नींव डालने वाले भारतीय पण्डितों में उनका अपना स्थान है। वे बड़े स्वाभिमानी और प्रबुद्ध पण्डित थे। कठोर अनुशासन में विश्वास करते थे, पर साथ ही अपनी प्रत्येक सन्तान की प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से प्रस्फुटित होने का उन्होंने अवसर दिया। मां का नाम व्यन्तीदेवी था। अज्ञेयजी से बड़े दो भाई ब्रह्मानन्द और जीवानन्द और सब से बडी बहन थीं शीलवती। ये बहन अज्ञेयजी का कवच थीं। बचपन में जितने ये हठीले थे, उतनी ही अपनी सचाई के लिए वे हठीली थी। वे अपने पिता के आगे भी अपनी सचाई के लिए झुकती नहीं थी। बचपन पिता की नौकरी के चक्कर के साथ कई स्थानों की परिक्रमा में बीता। कुशीनगर में जन्म, फिर लखनऊ, श्रीनगर-जम्मू घूमते-घामते परिवार 1916 ई० में नालन्दा पहुंचा। वहां पिता ने हिन्दी में लिखना शुरू किया। इसके बाद 1921 में परिवार उदकमण्डलम् (अंगरेजों का उटकमण्ड या ऊटी) गया, पिताजी ने इनका यज्ञोपवीत कराया और वात्स्यायन का कुलनाम दिया। घर पर ही भाषा, साहित्य, इतिहास और विज्ञान की प्रारम्भिक पढाई शुरू हुई और साथ ही साथ लिखाई भी। 1925 में इन्होंने मैट्रिक की प्राइवेट परीक्षा पंजाब यूनिवर्सिटी से दी और इसके बाद दो वर्ष मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में एवं तीन वर्ष फॉर्मन कॉलिज लाहौर में संस्थागत शिक्षा पायी। वहीं बी० एस-सी० और अंगरेजी में एक वर्ष एम० ए० का पूरा किया। इसी बीच स्व० भगत सिंह के दल में चले गये और 1930 में ये गिरफ्तार हो गये। छह वर्ष जेल और नजरबन्दी भोगकर 1936 ई० में कुछ दिनों तक आगरा के प्रसिद्ध पत्र 'सैनिक' के सम्पादक

मण्डल में रहे, फिर मेरठ के किसान आन्दोलन मे काम किया। 1937-39 में 'विशाल भारत' के सम्पादकीय विभाग मे रहे। कुछ दिनों तक ऑल इण्डिया रेडियो मे रहकर 1943 में सैन्य सेवा में प्रविष्ट हुए, पूर्वी मोर्चे पर रहे। 1946 में सैन्य सेवा से मुक्त होकर ये शुद्ध रूप से साहित्य-सेवा में लगे। मेरठ और उसके बाद इलाहाबाद और अन्त में दिल्ली को केन्द्र बनाया। 'प्रतीक' का सम्पादन किया। 'प्रतीक' ने ही हिन्दी के आधुनिक साहित्य की नयी धारणा के लेखकों-कवियों को सशक्त मंच दिया और साहित्यिक पत्रकारिता का नया इतिहास रचा। 1952 से 1955 के बीच देश की यात्रा और 1955 से 1971 तक देशान्तरों की यात्रा के दौर चले; कुछ यात्राएं अध्ययन के निमित्त और कुछ अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन के निमित्त हुईं। 1965 से 1968 तक ये साप्ताहिक 'दिनमान' के सम्पादक रहे। इन्होंने कैलिफोनिया विश्वविद्यालय, बर्क्ले में भारतीय साहित्य और संस्कृति के अध्ययन को निर्देशन दिया। 1971 में जोधपुर विश्वविद्यालय ने तुलनात्मक साहित्य के आचार्यपीठ पर इन्हें बुलाया। 1972 में स्व० श्री जयप्रकाश नारायण के आग्रह पर इन्होने 'एवरीमैंस' अंगरेजी साप्ताहिक का सम्पादन-कार्य संभाला, पर 1973 में उससे अलग हुए। पुनः 'प्रतीक' को नया नाम 'नया प्रतीक' देकर 1973 से निकालना शुरू किया और अपना अधिक समय लेखन को देने लगे। इसके साथ ही उन्होंने इस अवधि में अपने सामाजिक दायित्व की पूर्ति के लिए बहिर्मुख भी किया और देश-विदेश में अनेक व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों का सम्बन्ध अधिकतर भारतीय अस्मिता, भारतीय चेतना और भाषा-सम्प्रेषण के उभरते हुए सवालों से था। इस अवधि में कविता से अधिक वैचारिक गद्य की रचना हुई। 1977 में जर्मनी से लौटकर आने पर दैनिक पत्र 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादन का भार संभाला और सत्ता की राजनीति से अलग रहते हुए मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का निर्वाह किया। अगस्त 1979 में नवभारत टाइम्स से अवकाश ग्रहण किया।

1968 मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य-वाचस्पति' की और 1971 में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ने डी० लिट् की मानद उपाधि से भूषित किया।

अज्ञेय जी का जीवन जितना यायावर, जितना सक्रिय और जितना निरन्तर उमडन-घुमड़न और अमोघ वर्षण का रहा है, उतना किसी एक व्यक्ति का जीवन हो पाता ही बड़े सौभाग्य की बात है।

इस जीवन के उपादान तत्वों पर जब हम विचार करते हैं तो पाते है कि इसमें देश के कोने-कोने की माटी की सुवास है, कई आकाशों की मेघवृष्टि है—कभी उद्दाम, कभी झनकार, कभी हलकी फुहार। इसमें अनेक स्नेहों का स्पर्श है—पिता का अलक्ष्य छायादार स्नेह, छोटी बुआ और बडी बहन का छलकता स्नेह, क्रान्तिकारी बन्धुओं का आदर-मिश्रित स्नेह, जाने कितने अबोध बच्चों, पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का मूक और सात्विक स्नेह, अग्रज कवियों, लेखकों और शिक्षकों का आशा-भरा स्नेह, उदीयमान प्रतिभाओं का श्रद्धा-भरा स्नेह, और अपने पूरे देश का स्वस्ति-वाची स्नेह।

अज्ञेय का कृतित्व बहुमुखी था, यह तो उनके समृद्ध अनुभव की सहज परिणति रहा, इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि वह सतत विकासशील रहा क्योंकि वह निरन्तर अपने को तोड़ता चलता था, अपने को और व्यापक संदर्भों से जोड़ता चलता था। इसका सशक्त प्रतिबिम्बन दो बातों में मिलता है: एक तो पूर्व-रचनाओं का 'मैं' धीरे-धीरे 'हम' बनता जाता है और दूसरे पूर्व रचनाओं का वस्तुजगत् (इदम्) धीरे-धीरे आत्मीकृत होता जाता है।

प्रारम्भ की रचनाएं अध्ययन की गहरी छाप अंकित करती हैं या प्रेरक व्यक्तियों से दीक्षा की गरमाई का स्पर्श देती हैं, उत्तरवर्ती रचनाएं निजी अनुभव की परिपक्वता की खनक देती हैं और साथ ही भारतीय विश्वदृष्टि की स्निग्ध शीतल ज्योति से तादात्म्य का बोध कराती हैं। पहले भी विचार थे, पर वे कविता और कहानी के स्रष्टा पर भी हावी थे; बाद में विचार स्रष्टा के कभी-कभी पंख बनते हैं, अधिकतर सुखासन। स्रष्टा को यह इतमीनान हो जाता है कि 'एक धरती है जिस पर हम टिके हैं, चलते हैं, जीते हैं' इसके साथ ही कवि की भाषा भी तरलतर होती जाती है, सघनता खोती जाती है, वह तत्सम से तद्भव की ओर झुकती है, क्रियाएं एक होने में समाती जाती हैं, विशेषण धीरे-धीरे विशेष्यों के पहले न आकर

उनके पूरक होने जाते हैं, और प्रकृति के सौन्दर्य के साथ सहज घुलना-मिलना यन्त्रयुग के निर्मम यथार्थ के साक्षात्कार से निष्पीडित पीड़ा बन जाता है।

अज्ञेय स्वाधीनता को महनीय मानवीय मूल्य मानते थे। इसके ऊपर वे बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने को तैयार रहते थे, परन्तु स्वाधीनता उनके लिए सिद्धवस्तु नहीं, एक सतत जागरूक प्रक्रिया थी। उन्ही के शब्दों मे : "स्वाधीन होना अपनी चरम सम्भावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।" (स्रोत और सेतु : 'मेरी स्वाधीनता सब की स्वाधीनता') और साथ ही उसकी कसौटी अपने लिए इसे पाना नहीं है, दूसरे को स्वाधीनता प्राप्त हो, इसके लिए प्रतिबद्ध होना है, प्रयत्नशील होना है। उनके लिए व्यक्ति समाज का मुखर माध्यम है, व्यक्ति अन्त नही है; पर व्यक्ति समाज में सम्प्रवतता की अभिव्यक्ति है, इसलिए उनका आग्रह इसकी तपाई और निखराई के लिए इतना विशेष था।

अज्ञेय भारत की वैचारिक यात्रा को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करते थे, उसकी सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता में ग्रहण करते थे। ये अपने को, अपने सांस्कृतिक दाय को, उस दाय से प्राप्त विश्वदृष्टि को निरन्तर कसते रहते थे और इस कसाव को उपयुक्त भाषा देने का प्रयत्न करते रहते थे। बहुत ही कम ऐसे लेखक होंगे जो आज भाषा और सम्प्रेषण के प्रश्न पर इतनी गहराई से सोचते रहते हैं जितनी गहराई से अज्ञेय सोचते थे। इसीलिए अनेक भाषाओं और साहित्यों में डूबने के बाद तिरने के लिए अपने को पहचानने-पहचनवाने के लिए, उन्होंने हिन्दी का वरण किया और हिन्दी में अपने को पाया।

अभिव्यक्ति के लिए अज्ञेय ने कई विधाओं, कई कलाओं और भाषाओं का प्रयोग किया—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, यात्रा वृत्तान्त, वैयक्तिक निबन्ध, वैचारिक निबन्ध, आत्मचिन्तन, अनुवाद, समीक्षा, सम्पादन। प्रत्येक क्षेत्र मे उन्होंने कौशल की साधना की, क्योंकि वे कुशलता को ही कलाकार का चरम योग मानते थे। उन्होने कविता के क्षेत्र में हिन्दी, बांग्ला, देशी-विदेशी छन्दो, शास्त्रीय और लोक-धुनों का प्रयोग किया। कहानी के ढंग मे विविध प्रयोग किये, उपन्यास के क्षेत्र में तो 'शेखर एक

जीवनी' हिन्दी उपन्यास की विजय-यात्रा का एक कीर्तिस्तम्भ ही बना। नाट्य-विधान के प्रयोग के लिए 'उत्तर प्रियदर्शी' लिखा। निबन्धकार के रूप में कौतुकी, विचारक, सहृदय और रमता जोगी की विविध भूमिकाओं में उतरे। साहित्य के अलावा कुम्हारगीरी, बढ़ईगीरी, फोटोग्राफी और जाने किन-किन अन्य ललित कलाओं में हाथ फैला, कितने भेस बदले, कितने घर बदले, कितनी घटनाएं बदलीं; पर लोग थे कि उनका नाच देखते रहे, उन्हें नहीं देखा। लोगों ने ताली बजायी, प्रतीक्षा की कि नट अब गिरा, तब गिरा; पर लोगों ने सधे हुए नट को नहीं देखा, उसके चेहरे को नहीं देखा। जो जोखम उठाकर विश्वास से भीतर मुसकराता रहा—नाचना मेरा धर्म है, मुझे देखो न देखो, नाच पर ही रीझो ! कहीं एक क्षण को ही तुम भय से मुक्त हो सको, इसी में मेरी सार्थकता है।

अज्ञेय के रक्त की प्रत्येक शिरा में जीवन ऊष्मा थी, उनकी प्रत्येक गति में एक संयम था और उनके प्रत्येक शब्द में एक जागरण। वे युग के प्रहरी नहीं, युग के स्रष्टा थे। उन्होंने राष्ट्र के गौरव की बात उसके इतिहास या भूगोल के माध्यम से नहीं, अपने विनम्र समर्पण के माध्यम से कही है। उन्होंने भारतीय साहित्य की आधुनिक चेतना को राह दी तो इसके साथ-ही-साथ आधुनिकता को परखने के लिए अपने देश-काल का चौखटा भी दिया। और इस चौखटे के पार दिखनेवाली पूर्ण स्वाधीनता का अहसास भी दिया। उनका रचयिता निरन्तर आत्मपरीक्षण करता रहा है, उनकी रचना सदैव एक निर्मम और निरपेक्ष व्यवस्था और व्यक्ति के सामाजिक दायित्व के बीच गहरे तनाव के दबाव में गेंद की तरह उछलती रही है। राजनीतिक प्रतिबद्धता से गुजरकर वे ऐसी वैचारिक प्रतिबद्धता के हामी हुए और उन्होंने दो टूक भाषा में कहा : "स्वाधीनता के आधार दृढ़ करने के नाम पर ही व्यक्ति शासन के समक्ष अधिकाधिक असहाय, पराधीन और दिग्विमूढ़ क्यों होता जाता है ? हमें राजनीति में इस प्रश्न का उत्तर नहीं खोजना है, बल्कि इस प्रश्न के उत्तर में सही राजनीति खोजनी है।" (स्रोत और सेतु : 'समाज और व्यवस्था') उनकी वैचारिक छवि उत्तरोत्तर निखरी। 'संवत्सर' उनके सर्जनात्मक चिन्तन का सबसे उज्ज्वल प्रमाण है। पर आश्चर्य की बात है कि वैचारिकता के इस दबाव में उनकी रचना और भी

मृदुल, और भी परिपक्व, और भी सहज होती गयी।

प्रारम्भ की कविताओं में जीवन का आस्वादन और पार्थिव जगत् की समग्रता का ग्रहण बहुत आकृष्ट करता है। रोजमर्रा की जिन्दगी से, लोक-जीवन से और प्रकृति से, मानव के नये आयामों मे वे अछूते सजीव बिम्ब ग्रहण करते हैं और चालू अर्थ में आध्यात्मवादी न होते हुए भी उनके माध्यम से एक भीतरी वास्तविकता (तथता) का बोध जगाते हैं। 'आंगन के पार द्वार' संग्रह में वे अपने को विशाल के साथ एकाकार करने में लगते हैं। 'कितनी नावों में कितनी बार', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूं', 'सागरमुद्रा', 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूं', और 'महावृक्ष के नीचे' संग्रहों की कविताएं आत्मसाक्षात्कार के उत्तरोत्तर आरोही क्षणों की सृष्टि है। अज्ञेय ने जापानी, यूनानी, मध्य-यूरोपीय, अमरीकी, लातीनी अमरीकी काव्यानुभवों का आस्वादन किया, बहुत-सी रचनाओं का काव्यान्तर भी किया, पर इन सभी रसास्वादों ने उन्हें अपना रस पहचानने के लिए उद्दीपित किया है।

तीन उपन्यास, 17 कविता संग्रह, सात कहानी संग्रह, एक नाटक, दो यात्रा-वृत्त, तीन डायरियों के लेखक, भारत भारती और साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता कवि अज्ञेय ने ज्ञानपीठ पुरस्कार से प्राप्त हुई एक लाख रुपये की राशि से 'वत्सल निधि' नाम की संस्था का श्रीगणेश किया था जो आज भी साहित्य संवर्द्धन के काम में जुटी हुई है।

☐ हिंदी के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले अज्ञेय तीसरे साहित्यकार थे। इनसे पूर्व हिन्दी को यह गौरव पहली बार कवि सुमित्रानंदन पंत (1968 का चौथा पुरस्कार) और दूसरी बार कवि दिनकर (1972 का आठवां पुरस्कार) के माध्यम से प्राप्त हुआ था।

☐ अज्ञेय को पुरस्कार समर्पित किया गया कला मंदिर, कलकत्ता के सभागार मे। यह दूसरा अवसर था जब पुरस्कार समारोह दिल्ली से बाहर आयोजित किया गया। पहली बार बंबई में कारंत को इससे पिछला पुरस्कार दिया गया था।

☐ कालजयी साहित्य सृजन के परिणामस्वरूप ज्ञानपीठ पुरस्कार में मिली राशि को भी अज्ञेय ने साहित्य के संवर्धन को समर्पित कर दिया था, वत्सल निधि संस्था के निर्माण द्वारा, जो साहित्यिक क्रियाकलापों में आज भी सन्नद्ध है।

☐ साहित्य की राशि साहित्य के नाम समर्पित करने वाले अज्ञेय ऐसे तीसरे ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता थे, जिन्होंने यह निर्णय लिया। इनसे पूर्व पहला ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले मलयालम कवि जी. शकर कुरुप ने पुरस्कार राशि से मलयालम कविता के क्षेत्र मे उदीयमान नयी प्रतिभाओ को प्रोत्साहन देने के लिए 'ओडक्कुपल' पुरस्कार की स्थापना की थी। और तीसरे ज्ञानपीठ पुरस्कार के सहविजेता गुजराती कवि उमाशंकर जोशी ने गुजराती कविता और अन्य भाषाओ की कविताओं के गुजराती में अनुवाद कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए पुरस्कार राशि से एक संस्था की स्थापना की थी।
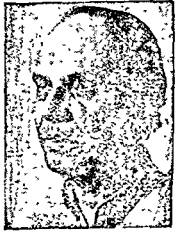
बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य

जन्म : 14 अक्तूबर, 1924
पुरस्कृत कृति : मृत्युंजय
भाषा : असमी
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : 1963 से 1972
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : *15 दिसंबर, 1980*
विज्ञान भवन, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : *एक लाख रुपया*

पंद्रहवां पुरस्कार : 1979

वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य

बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का जन्म 14 अक्तूबर, 1924 को असम के पूर्वी अंचल के एक अजाने से चाय बागान के परिसर में हुआ था। वहीं के विभिन्न जातीय सामाजिक परिवेश में ये पले और बड़े हुए। इस परिवेश के रूप का अनुमान उन्हें अवश्य हो सकता है जिन्होंने चाय बागानों का वातावरण स्वयं देखा और जाना है। अक्षरबोध वहीं प्राप्त करके, आगे की स्कूली शिक्षा इन्होंने ढेकियाखोवा ग्राम के अंग्रेजी मिडिल स्कूल में पूरी की। उन्हीं दिनों अपनी इस स्थिति को भी समझ लेने का अवसर उस बाल्यावस्था में इन्हें मिला कि खड़ा होना है तो अपने पांवों पर स्वयं ही। बहुत बार तो स्कूल भी बिना कुछ खाये-पिये ही जाना होता।

तेरह के थे बीरेन जब 1937 में जोरहाट गवर्नमेंट हाई स्कूल में आये और फिर 1941 में भाषा-साहित्य आदि कई विषयों में मान-गौरव अर्जित करते हुए मैट्रिक्युलेशन किया। इसी चार वर्ष के काल में उनकी साहित्यिक क्षमताएं भी प्रकट होकर सर्वप्रथम सामने आयीं। किशोर लेखक प्रतिभाओं के लिए नियत एक सार्वजनिक पुरस्कार सुवर्ण पदक के रूप में उन्हें दिया गया। साथ ही, कई हस्तलिखित साप्ताहिकों एवं मासिकों में उनकी रचनाओं को प्राथमिकता दी जाने लगी। सच तो जोरहाट उन दिनों बना हुआ था भी साहित्यिक कार्य-प्रवृत्तियों का केन्द्र। चन्द्रकान्त बरुआ, नील-मणि फूकन और गणेश गोगोई आदि प्रथम श्रेणी के सभी असमी लेखक वहीं थे और किशोर बीरेन को इनका भरपूर सान्निध्य मिला।

कुछ दिनों बाद ही विज्ञान के विद्यार्थी होकर बीरेन ने गुवाहाटी के कॉटन कॉलिज में प्रवेश लिया। फिर आया 1942 का आन्दोलन और तरुणाई की पौर में पाव धरने से पहले ही ये उस ओर खिंच गये। शिक्षा का क्रम भंग हो गया, किन्तु साहित्य के प्रति सक्रिय अनुराग अक्षुण्ण बना

रहा। किसानों की दयनीय दशा, देश का स्वाधीनता संग्राम, और डिग्बोई तेल मजदूरों की हड़ताल : ये सब आंखों देखे तथ्य थे जो उनके भीतर उस वय में भी सामाजिक न्याय के प्रति निष्ठाभाव को दृढ़मूल कर गये। अगले वर्षों में तो उनकी सामाजिक चेतना-भावना और भी विकसित और जीवन्त होती गयी। यही काल था जब 'जयन्ती' और 'आवाहन' पत्रिकाओं मे उनकी रचनाएं प्रायः ही प्रकाशित होती थीं।

अवसर बनते ही अध्ययन के टूटे तार फिर जुड़े और 1945 मे बीरेन भट्टाचार्य ने बी०एस-सी० किया। जल्दी ही फिर वह कलकत्ते चले गये और लक्ष्मीकान्त बेजबरुआ की असमी साहित्यिक पत्रिका 'वह्नि' के सहायक सम्पादक बने। सम्पादक माधव बेजबरुआ के असमय निधन के कारण पत्रिका बन्द हुई तो बीरेन ने 'एडवान्स' के साथ सम्बद्ध होना चुना। यही थे ये जब 1946 में कलकत्ते के सार्वजनिक हत्याकाण्ड हुए और इनका मित्र कवि अमूल्य बरुआ, मारा गया। इतना गहरा मानसिक आघात पहुंचा इन्हें कि महीनों न आंख से आंसू गिरा न एक क्षण को भी एकान्त सहन कर पाये। दिनों बाद एक दिन गुवाहाटी लौट आये और देवकान्त बरुआ द्वारा सम्पादित 'दैनिक असमिया' में जैसे-तैसे काम करने लगे।

सामाजिक न्याय, समानता, सत्यता, और मानव जाति के प्रति प्रेम : ये कुछ नैतिक मूल्य उनके मानस का मानो अभिन्न अंग बन आये। हॉस्टेल में रहे, या पार्टी ऑफिस में, या फिर देहात के किसी मित्र की झोंपड़ी मे : पर अभाव और कष्ट सब कहीं सदा संगी बने रहे। जीवन का यही जीया हुआ स्वरूप इनके समूचे दृष्टिभाव का दिशादाता बना। अपने को छोटा बनाकर रहने का महत्व इन्होंने प्रारम्भिक काल में ही गुन लिया था। तभी से इनका निश्चय रहा है कि सुख और सत्ता की चाहना तक किये बिना मानव जाति के प्रति मौन सेवा और समर्पण का जीवन जीया करेंगे। यही तो इनके वास्तव जीवन का चित्र भी है। और यही मूल कारण है कि मानवीयता, सामाजिक-न्यायभावना, और दलित-निर्धनों के साथ तादात्म्य इनके साहित्य का प्रमाणचिह्न बन गये हैं। अपने उपन्यासों के चरित्रों की नाईं बीरेन बाबू भी परिवर्तन के सक्रिय समर्थक हैं : परिवर्तन व्यक्ति के अपने जीवन में और समाज के पतनोन्मुख मूल्यों में। इनकी चिन्तना का क्षेत्र,

इस प्रकार, यह नही रहा कि समाज का स्वरूप क्या है, बल्कि यह कि स्वरूप कैसा हो।

पत्रकार-जगत मे शक्ति-राजनीति के छाये हुए बोलवाले से खिन्न होकर एक दिन ये हठात् 'दैनिक असमिया' से चले आये और समाजवादी पत्रिका 'जनता' के साथ सम्पादक के रूप में सम्बद्ध हो गये। यहां अपने वास्तविक विचारों को तो प्रस्तुत करने का इन्हें अवसर अवश्य मिला, किंतु ऐसी पत्रकारिता की जो अपनी जोखिमें रहा करती हैं वे भी सामने आयीं। इस काल में 'रंगघर', 'पचोवा' और 'रामधेनु' आदि पत्रिकाओं में भी उनकी रचनाएं निरन्तर आयी। इनमें कविता और कहानियां भी होतीं और समीक्षात्मक निबन्ध भी। कहा जा सके तो इनके जीवन का यह काल प्रयोगों का काल था।

1949 में वीरेन भट्टाचार्य उखरुल चले गये। उखरुल : दूर बर्मी सीमान्त से लगा हुआ छोटा-सा एक नगा गांव। और चले गये वहां : विज्ञान के अध्यापक होकर, एक मित्र के आग्रह मात्र पर, क्योकि कोई और जाने को तैयार न था!! इस समय तक स्वेच्छया अकिंचनता को अंगीकार कर चुके थे ये। आगामी वर्षों में तो अच्छे-अच्छे कई प्रस्ताव सामने आये, पर किसी को जो स्वीकारा हो। उखरुल पहुंचे तो दो जोड़े कपड़े पास थे और था एक तेईस रुपये मे खरीदा हुआ पुराना फौजी ग्रेन कोट। बीरेन भट्टाचार्य का उखरुल जाना उनके जीवन में एक मोड़ बना। उन दिनों फौजो शक्ति भर इस प्रयत्न में थे कि नगा युवकवर्ग पृथकतावादी आंदोलन में सम्मिलित हो जाये। बीरेन बाबू ने उनमे से अधिकांश को भारतीय राष्ट्रीयता की मुख्यधारा में बनाये रखा। इसके अतिरिक्त उखरुल के चार वर्षों ने न केवल उनके दृष्टि-परिप्रेक्ष्य को विस्तार देकर समृद्ध किया, बल्कि भारतीय संस्कृति की विशालता और जातिगत वैविध्य की भी प्रत्यक्ष अनुभूति दी। इन्ही चार वर्षों की देन है उनका प्रथम महत्वपूर्ण उपन्यास 'इयारुइंगम'।

1953 में बीरेन बाबू ने 'रामधेनु' के सम्पादन का दायित्व अपने ऊपर लिया। उसी समय से यह पत्रिका माध्यम बनी असमी साहित्य में विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत अभिनव प्रयोगशीलता की। एक नया युग ही वहां आ

गया जैसे। नाम भी मिला उसे, रामधेनु युग। बीरेन भट्टाचार्य के साहित्यिक एवं राजनीतिक कर्तव्य कालों में जो सबसे अधिक सफल और उत्कर्षकारी माने गये उनमें इसकी एक अपनी विशिष्टता है। 1953 में ही एक शिष्ट-मण्डल के सदस्य के रूप में वे नगा पर्वत प्रदेश गये, उद्देश्य वही कि नगा जाति को भारत से पृथक् न होने दें। 1956 के आसपास डॉ० राममनोहर लोहिया से मैत्रीभाव घनिष्ट हो जाने पर वे समाजवादी आन्दोलन के प्रति और अधिक आकृष्ट हो गये। इस काल के उनके लेखन से यह सब परि-लक्षित भी होता है।

पूरे एक दशक 'रामधेनु' के साथ सम्बद्ध रहने के बाद बीरेन भट्टाचार्य 'नवयुग' में आ गये और 1967 तक इस साहित्यिक-सांस्कृतिक साप्ताहिक के सम्पादक रहे। उसके बाद इसका प्रकाशन ही बन्द हो गया। कई वर्ष फिर स्वतंत्र पत्रकार का जोखिमों-भरा जीवन बिताया। इसी काल में 'असमी साहित्य में परिहास और व्यंग्य' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर गुवाहाटी विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की।

'मृत्युंजय' जिसे बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य की समस्त कृतियों में से ज्ञान-पीठ पुरस्कार के लिए प्रमुख रूप से चुना गया, विशिष्ट कोटि का एक राज नैतिक उपन्यास है। इसका कथा-विषय 1942 के असम प्रान्तीय स्वतंत्रता आन्दोलन से सम्बद्ध है, जब नौगांव जिले में दैपारा के गोसाईं के नेतृत्व में 'मृत्यु वाहिनी' की एक आठ जन की टुकड़ी द्वारा सैनिकों और गोला-बारूद से भरी ट्रेन की ट्रेन रेल की पटरी से नीचे खड्ड मे गिरायी गयी। समूची योजना और उसका निर्वाह, आन्दोलनकारियों और जनता के अपने-अपने भीतरी विग्रह, पुलिस के अटाटूट अत्याचार, मानव स्वभाव के विभिन्न रूप और इन सबके बीच नारी-मन की कोमलतम भावनाएं जिस कलात्मकता के साथ यथास्थान प्रकाश में लायी गयी है, और जिस सहजता के साथ चिर-अहिंसावादी तक इस भीषण नरमेध को समय की दुर्निवार माग मान-कर योजना मे सम्मिलित होते है : इन सब विशेषताओं ने इस उपन्यास को सचमुच ही महत्वपूर्ण बना दिया है।

कथानक का जिस प्रकार विकास हुआ है उसके अतिरिक्त बीरेन बाबू की इस कृति को एक स्थायी मूल्यवत्ता प्रदान करने वाले अन्य तत्व है : इसमे

अन्तर्भूत सामाजिक जीवन व्यवस्था का दर्शन और व्यक्तिगत आचरण एवं नैतिकता विषयक टकराव, उनके समाधान। चरित्रों की दृष्टि से भी यह उपन्यास अत्यन्त समृद्ध है, ये न केवल विभिन्न सामाजिक वर्गों एवं मानसिक स्तरों के हैं, बल्कि स्वभाव और प्रकृति में भी अलग-अलग हैं। और ऐसा पुरुष पात्रों में तो है ही, नारी पात्रों में और भी अधिक है। कई पात्र तो इस तरह उभरकर सामने आते हैं कि अपनी-अपनी भूमिका के आधार पर भाव प्रतीक और कथानक के प्राण तो बन ही उठते हैं, अन्यथा भी चेतना पर छाये रह जाते हैं। उदाहरण के लिए नारी पात्रों में डिमि, सुभद्रा और गोसाईनी; पुरुष पात्रों मे महद गोसाई, घनपुर और रूपनारायण। लेखक ने कथाविकास में ही पिरोते हुए प्रसंगानुसार कही लोक-मान्यताओं की निस्सारता रेखांकित की है तो कहीं उनकी सार्थक प्रतीकात्मकता। इसी प्रकार पग-पग पर प्रकृति दृश्यों का भी उपयोग किया है। अनेक स्थल आये हैं जहां कहकर लेखक इतना नहीं कहता जितना प्रकृति-छवि के किसी रूप भाव की ओर संकेत करके।

'इयारुइंगम', अर्थात् 'जनता का राज' शीर्षक उपन्यास मे भी बीरेन बाबू ने सामाजिक मूल्यों की संघर्षशीलता को विषय बनाया है। यहां चित्रा-कन हुआ है पुरातनता में दबे हुए नगा समाज का जो वर्तमानता में आ उठने के लिए आकुल है। इन टंखुल नगाओं का समूचा प्रदेश द्वितीय महा-युद्ध काल में अमरीका-ब्रिटेन और जापान के घनघोर युद्ध मे तहस-नहस कर दिया गया था। जापानी आक्रान्ताओं के चले जाने के बाद नगा समाज के एक प्रमुख वर्ग ने स्वभावतः चाहा कि वहां सब कहीं शान्ति का वास हो, देश की विपुल जनधारा मे आ मिलने का सुअवसर हो, और जो भयंकर क्षति सम्पूर्ण प्रदेश की हुई है उसकी आंशिक पूर्ति देश की शासन-सत्ता की ओर से की जाये। नेतृत्व प्रदान करना चाहता है इस वर्ग को उद्‌बुद्धमना रिशांग जो स्वयं गांधीवादी सिद्धान्तो एव ईसाई धर्मीय मूल्यों का समर्थक है।

उसके प्रयत्नों की अधिकार पूजी है : उसका युगचेता शिक्षित मानस, ईसाई धर्म के प्रति हार्दिक लगन, और महायुद्ध के काल में अमरीका-ब्रिटेन की सेनाओं को दी हुई सहायताएं। इसके उद्देश्य और प्रयत्नों का विरोधी

है परम्परावादी विदेश्सेली, जो सुभाष बोस का पक्षधर है और स्वतन्त्र नगालैण्ड के लिए संघर्षशील। कई और चरित्र भी, विशेषकर मारेङ्सा का, कथानक को प्राणवान बनाते हुए उभर-उभरकर सामने आते हैं। पर जैसा 'मृत्युंजय' में हुआ, लेखक का प्रमुख दृष्टि-लक्ष्य चरित्र और पात्र उतने नहीं हैं जितना कि उन सबका एक सम्मिलित समाज।

बीरेन बाबू का तीसरा प्रतिष्ठा प्राप्त उपन्यास 'प्रतिपद' है। इसकी विषयभूमि है: साम्राज्यवादी निरंकुशता के सताये हुए डिग्बोई ऑयल रिफाइनरी में मजदूरों की हड़ताल। 1939 की यह हड़ताल देश के ट्रेड यूनियन आन्दोलन में एक विशेष स्थान रखती है। लेखक कितनी सम्पूर्णता के साथ लोकतन्त्रीय समाजवाद और सामाजिक असमानता के विरुद्ध विद्रोह के प्रति प्रतिश्रुत है इसका साक्षी यह उपन्यास है। स्वभावतः कई चरित्र यहां भी प्रमुख हो उठे हैं। जो भूमिका 'मृत्युंजय' में धनपुर की है और 'इयारुइंगम' में विदेश्सेली की, वही यहां 'प्रतिपद' में डिम्बेश्वर की है; इसी प्रकार नारी पात्रों में भी डिमि और मारेङ्सा का स्थान यहां जेबुन्निसा लेती है।

अब तक बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के बीस उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और दो कहानी संग्रह। इनमें आयी कहानियों के अतिरिक्त सौ से अधिक और हैं जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आ चुकी हैं। कवि के रूप में तो अपने को वे 'रामधेनु युग' में ही प्रतिष्ठित कर चुके थे। नाटक उनके आकाशवाणी से आये दिन प्रसारित हुआ करते हैं। अन्य विधाओं के अन्तर्गत उनके लगभग दो सौ निबन्ध हैं, कई यात्रावृत्त, आदि।

इन दिनों डॉ० बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य केन्द्रीय साहित्य अकादमी के अध्यक्ष भी हैं।

- ☐ असमिया के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार का गौरव दिलाने वाले उपन्यासकार बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य यह पुरस्कार पाने वालों में सबसे कम आयु के साहित्यकार थे/हैं।
- ☐ ज्ञानपीठ पुरस्कार के अलावा साहित्य अकादमी पुरस्कार पाने वाले तमाम भाषा-भाषी सातियकारों में भी डॉ० बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य वे पहले साहित्यकार थे जिन्हें सबसे कम आयु वाला पुरस्कार-जेता होने का गौरव मिला था।

शंकरन् कुट्टी पोट्टेक्काट

जन्म : 14 मार्च, 1913

स्मृति शेष : 1982

पुरस्कृत कृति : ओरु देशत्तिते कथा

भाषा : मलयालम

विधा : उपन्यास

पुरस्कार अवधि : 1964 से 1973

के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ

पुरस्कार अर्पण : 28 नवंबर, 1981

विज्ञान भवन, नई दिल्ली

पुरस्कार राशि : एक लाख रुपया

सोलहवां पुरस्कार : 1980

शंकरन् कुट्टी पोट्टेक्काट

शं० कु० पोट्टेक्काट का जन्म 14 मार्च, 1913 को कोयिकोड (कालीकट) मे हुआ था। वे एक प्रतिष्ठित मध्यवित्त परिवार के सदस्य थे—जैसा परिवार ओरु देशत्तिन्टे कथा में श्रीधरन् का है। शंकरन् के पिता एक स्कूल में शिक्षक थे। यदि श्रीधरन् के पिता मास्टर कृष्णन् को उनके चरित्र पर आरोपित करें तो वे एक सज्जन व्यक्ति थे जो अपने अधिकारो के प्रति जागरूक थे। पास-पडोस में उनका सम्मान था। वे मूर्खताओं को प्रसन्नता पूर्वक नही झेलते थे। बालक शंकरन् जहां उनको प्रेम करता था वहां उनकी भलमनसाहत से एक तरह से आतंकित भी था।

शंकरन् को अपने युग और परिवार के अनुरूप परम्परागत शिक्षा मिली। कॉलिज की पढाई उन्होंने अधबीच मे ही छोड़ दी और स्कूल में शिक्षक हो गये। कुछ समय बाद ही उन्होंने वह नौकरी छोड़ दी और बम्बई चले गये—किसी काम-धन्धे की तलाश मे या किसी साहसिक अभियान के चक्कर मे। कुछ समय बाद ही वे पक्के प्रवासी हो गये, घुमक्कड़, यहां, जहा, तहा घूमते रहने वाले—जहां भी उनकी बौद्धिक जिज्ञासा वृत्ति उन्हे खींच ले गयी। वे उन यात्रियों मे नही थे जो यात्री-एजेण्टों की मर्जी पर और विमान की उड़ान की समय-सारिणी से बंधे हुए एक पर्यटन-स्थल से दूसरे पर्यटन-स्थल पर जाते है। उस युग मे जेट विमान भी नहीं थे, न यात्री-एजेण्ट। वे तो उन स्थानों पर जाना चाहते थे, उन लोगों के जीवन का अध्ययन करना चाहते थे, जहां उनका मन जमे, न कि किसी और की इच्छा से। कुछ वर्ष एशिया, अफ्रीका और यूरोप में घूमे। परिणामस्वरूप कई श्रेष्ठ कहानिया और स्मरणीय यात्रा वृत्त उनकी लेखनी से उपजे। वास्तव में इस प्रकार के लेखन के लिए यात्रा-विवरण उपयुक्त संज्ञा नहीं है। इनमें उन अनेक स्थानों का व्यक्तित्व, चरित्र और अन्त:स्वरूप उद्घाटित है—

जहां वे गये।

सन् 1934 में 21 वर्ष का एक युवक कालीकट के अपने घर से निकल पड़ा सिर्फ 60 रुपये लेकर जो उसे अपनी मां की सोने की लड़ी बेचकर मिले थे। उस समय जब देश अत्यन्त दुर्वह आर्थिक मन्दी की चपेट में आया हुआ था, यह उस हताश युवक का प्रथम प्रयास था—विशाल विश्व में अपने अस्तित्व की खोज का। उसके पास एक बहुत कीमती वस्तु भी थी। एक छोटी-सी पेटी में संक्षेप मे लिखी हुई कुछ सामग्री। मंगलौर पहुंचकर वह बम्बई को चल पड़ा—जो उसके सपनों का शहर था। परन्तु यह प्रवास घातक हुआ। एक-दो दिन में ही उसे एक धोखेबाज ने ठग लिया। पैसा भी गया, पेटी भी गयी और वह अमूल्य लिखी हुई सामग्री भी। उसने अपने पिता को तार दिया। दूसरे दिन ही रुपया आ गया। वह कालीकट वापस लौट गया। इस तरह उस युवक का पहला साहसिक अभियान समाप्त हुआ। परन्तु इस विफलता से उसकी और अधिक साहसिक अभियान की इच्छा बलवती ही हुई। आगे के वर्षों में सारे संसार का भ्रमण इस बात का प्रमाण है।

एक उतावले, फरार युवक से विख्यात लेखक–शंकरन् कुट्टी पोट्टेक्काट ने बहुत बडी मंजिल तय की। वर्ष 1980 का ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करना जो कि देश का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान है, उनके गौरव का चर्मोत्कर्ष था, चालीस वर्षों की निरन्तर साहित्य सेवा का, समर्पित सेवा का, सम्मान था।

पुरस्कृत उपन्यास 'ओरु देशत्तिन्ते कथा' (कथा एक प्रांतर की) उनका आत्मकथात्मक उपन्यास है—जो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का और साधना का द्योतक है। कई वर्ष पहले इस कृति को केरल साहित्य अकादमी पुरस्कार और केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल चुके थे।

जब से आधुनिकता का युग प्रारम्भ हुआ, तरुण पीढ़ी के लेखकों में एक उत्साह है और गतिशीलता के प्रति लगाव। वे ज्यां पाल सार्त्र, काफ्का और अस्तित्ववादी साहित्यकार आल्बेर कामू की नकल करने में एक दूसरे से जैसे होड़ लगाये हो। यह आधुनिकता आज की मलयाली कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक—सबमें परिलक्षित है। परन्तु कितने पाठक इन रचनाओं

को समझ पाते हैं। उनकी प्रशंसा करना तो दूर की बात है। मलयाली पाठकों पर जिनका स्थायी प्रभाव पड़ा है उनमें पोट्टेक्काट भी थे, जो अपने असंख्य प्रशंसकों और मित्रों में एस० के० के नाम से लोकप्रिय रहे। वे कवि थे, कहानीकार थे, उपन्यासकार थे, यात्रावृत्त भी लिखते थे। उनमें अनेक धाराओं का समावेश हुआ था। मलयालम साहित्य में वे एक 'अनूठे व्यक्तित्व के धनी' और अप्रतिम प्रतिभाशाली माने जाते थे। उनका भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी शैली सरल, प्रवाहमयी और सजीव थी जो पाठक की कल्पनाशक्ति को आकर्षित कर लेती रही। सहज स्वाभाविकता और बोधगम्यता उनकी विशेषता थी। यथार्थ-परकता उनका मुख्य गुण। वे मानव स्वभाव के गहरे पारखी थे और वे हिचक स्पष्टवादी।

साहित्य मात्र पढने के लिए नहीं समझने के लिए भी है। यदि वह आपको अपने आसपास की वस्तुस्थिति से परिचित नहीं कराता तो उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। साहित्य को जीवन का दर्पण होना चाहिए और प्रायः वह कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है। साहित्य अपने युग की आत्मा का दर्पण भी होता है। मलयालम भाषा का कोई दूसरा लेखक पाठकों को अपने पात्रों से इतना निकट का साक्षात्कार नहीं करा पाया जितना कि, पोट्टेक्काट। पोट्टेक्काट ने जीवन के चित्र छोटी-छोटी सूक्ष्मताओं और महत्वपूर्ण पक्षों को उजागर करते हुए खींचे हैं जिनमें स्वाभाविक सहजता है और वे पाठक को मंत्रमुग्ध-सा कर देते हैं। श्री पोट्टेक्काट पूर्णतया मानवीय गुणों से युक्त थे। उनके उपन्यासों, कहानियों व अन्य रचनाओं में भावनाओं का उन्मेष है। उनके पात्र साधारण जनजीवन से लिए गये हैं।

'ओरु देशत्तिन्ते कथा' उस गाव की कथा है जिसमें श्री पोट्टेक्काट जन्मे, जहां उन्होंने अपना बालपन और किशोर जीवन बिताया। लेखक ने यह पुस्तक 'अतिरानिप्पदम' के दिवंगत स्त्री-पुरषों को साभार समर्पित की है। उनके साहित्य में यह गांव अमर हो गया है। ये वे सीधे-सादे ग्रामीण जन हैं जिनसे श्री पोट्टेक्काट ने जीवन के अनेक भले-बुरे प्रसंग, अनेक हास-परिहास, उछलकूद और कौतुक, समझदारी, नासमझी, कटु सत्य और गम्भीर असत्य, सीखे-समझे थे।

उपन्यास चार भागों में विभाजित है, कुल पचहत्तर अध्याय हैं इसमें और इसमे समाये है—लेखक के दुःख, सुख, हंसी और आंसू, उसके अनेक मित्र कुटुम्बीजनों के सुख-दुःख। इस उपन्यास में बीसवें और तीसवें दशक की अनेक घटनाए वर्णित है—जैसे द्वितीय विश्व युद्ध, स्वाधीनता संग्राम और मोपला विद्रोह। हमें इसमे विभिन्न प्रकार के पात्रो से साक्षात्कार होता है, प्रत्येक अपने आप में निराला है—प्रत्येक की छटा, रूप-रंग निराला है—जिन्हें लेखक ने एक विशाल फलक पर चित्रित किया है। पोट्टेक्काट के पात्रों की भाषा आंचलिक है। जो कोषिकोड की अपनी लोक भाषा है। उपन्यास का नायक श्रीधरन स्वयं श्री पोट्टेक्काट ही है। श्री पोट्टेक्काट की विलक्षण स्मृति उनकी एक बड़ी सम्पत्ति है। इसी कारण वे बड़ी सरलता से और सफलतापूर्वक अपनी उस विकास गाथा का वर्णन कर पाये हैं, जब वे एक चपल बालक थे, फिर विख्यात कवि हुए, विद्यार्थी जीवन में जब उन्हें गणित से विरक्ति थी, प्रेम के आनन्ददायी अनुभव, फिर एक प्रतिष्ठित नागरिक और अन्ततोगत्वा संसद के माननीय सदस्य। यह उपन्यास एक बिल्लौरी कांच या दूरबीन की तरह है जिसमें झांकने से आपको चित्र-विचित्र पात्र दिखाई देंगे। नायक का पिता कृष्णन मास्टर सज्जनता की मूर्ति हैं। श्रीधरन एक लडका है जो अपने विकासशील व्यक्तित्व से तारों को चुनौती देता दिखायी पड़ता है।

कहानी लेखक के रूप में पोट्टेक्काट की प्रतिष्ठा तब बढ़ी जब 'मातृ-भूमि' साप्ताहिक मे उनकी कहानी छपी। तब से उनकी जय-यात्रा अनवरत चालू रही। उनकी आनन्ददायी शैली में कुछ ऐसा अपनापन था, आत्मीयता थी कि जो सबको मोहित कर लेती थी। उनकी रोमांटिक कहानिया जब छपी तो उस समय तक वे पाठकों के लिए एक सर्वथा नयी चीज थी।

उनका पहला काव्यसंग्रह 'प्रभात कान्ति' 1936 में प्रकाशित हुआ। पचासवें दशक के प्रारम्भ में उनकी एक लम्बी कविता 'प्रेम शिल्पी' भी प्रकाशित हुई।

कवि और कहानी लेखक से वे उपन्यास के क्षेत्र में कूद पड़े। उनके तेईस कहानी संग्रह प्रकाशित है, आठ उपन्यास हैं, सोलह यात्रा-विवरण हैं, एक नाटक, एक संस्मरण और एक निबन्ध है। 1959 में उनकी तेरह

कहानियों का एक संग्रह रूसी भाषा में छपा जिसकी एक लाख प्रतियां बिक गयीं। मात्र दो सप्ताह में। उनका प्रथम उपन्यास 'नाटन् प्रेमम्' बम्बई में लिखा गया जब वे दुबारा इस महानगर में आकर रहे और जमे। इसमें एक भोली-भाली ग्राम सुन्दरी की कहानी है। 'विषकन्यका' उनका एक अन्य उपन्यास है जिसमें उत्तरी मालाबार तट पर आकर बसे प्रवासियों की कहानी है, वहां के प्रतिकूल जलवायु, हिंसक वन्य-पशुओं आदि के साथ उनके कठिन संघर्ष की गाथा है। 'तेरुविन्ते कथा'—भी एक वैसी ही कहानी है जैसी 'देशत्तिन्ते कथा' की—पर इसका परिदृश्य कालीकट की एक सड़क है।

यात्रा-विवरण लेखक के रूप में श्री पोट्टेक्काट अप्रतिम थे। उनकी घुमक्कड़ी वृत्ति उन्हें आस्ट्रेलिया छोड़कर विश्व के प्रायः सभी देशों में ले गयी। उनके प्रमुख यात्रा-विवरण हैं—इंडोनेशियन डायरी, काप्पिरिकलुटे नाट्टिल (अफ्रीकियों के देश में) आदि। पोट्टेक्काट ने मलयालम यात्रा साहित्य को ऐसे मनमोहक विवरणों से समृद्ध किया है जो ज्ञानवर्द्धक और शिक्षाप्रद तो हैं ही, मनोरंजक भी हैं।

उनका निबन्ध संग्रह 'एण्टे वपियम्पलंगल' (संस्मरण) मलयालम साहित्य में अद्वितीय और एक अभिनव प्रयोग है। इसमें लेखक ने कालीकट के प्रारम्भिक जीवन के, बम्बई के यायावरी जीवन के, मार्मिक शब्दचित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमें कवियों, क्रांतिकारियों और राजनयिकों से उनके सम्पर्कों का भी विवरण है।

☐ मलयालम को ज्ञानपीठ पुरस्कार दिलाने वाले श्री पोट्टेक्काट दूसरे साहित्यकार थे। इनसे पूर्व श्री गो० शंकर कुरुप पहला ज्ञानपीठ पुरस्कार (1965) मलयालम के लिए प्राप्त कर चुके थे।

अमृता प्रीतम

जन्म : 31 अगस्त, 1919
पुरस्कृत कृति : कागज ते कैनवस
भाषा : पंजाबी
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1965 से 1974
के बीच प्रकाशित साहित्य में सर्वश्रेष्ठ
पुरस्कार अर्पण : 16 अप्रैल, 1983
खेलगांव, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : डेढ़ लाख रुपया

सत्रहवां पुरस्कार : 1981

अमृता प्रीतम

जन्म हुआ 31 अगस्त, 1919 को गुजरांवाला (पंजाब) में।
बचपन बीता लाहौर में, शिक्षा भी वहीं हुई।
लिखना शुरू किया किशोरावस्था से
जिसका क्रम बना रहा है निरन्तर :
कविता भी, कहानी भी, उपन्यास भी, निबन्ध भी।
पुस्तकें 50 से भी अधिक।
महत्वपूर्ण रचनाएं अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में अनूदित।
पत्रकारिता में रुचि का प्रमाण है 'नागमणि' मासिक
1966 से निरन्तर छप रहा है जो निजी देख-रेख में।
1957 में कविता संकलन 'सुनहरे' पर अकादमी पुरस्कार से
1958 में पंजाब सरकार के भाषा-विभाग द्वारा
1973 मे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की मानद उपाधि
से
1980 में बुलगारिया के वैप्सरोव पुरस्कार (अन्तर्राष्ट्रीय) से
और
1982 में भारत के सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार
ज्ञानपीठ पुरस्कार (1981) से सम्मानित।

अमृता प्रीतम ने अपनी रचनाओं के जरिए जहां एक ओर मानवीय पतन को उघाड़ा है, वहां दूसरी ओर ईश्वर के फिर भी मौन बने रहने को भी। किस-किस रूप मे, सच, नारी होने का अभिशाप नही भोगना पड़ा नारी को! धर्म के नाम पर हुई मारकाट में लूट का माल थी वह! एक धर्म की दूसरे पर जय का प्रमाण बनाये गये तो नग्नाओं के जुलूस! राम या रहीम की दुहाई दे-देकर डाके पड़ते उन बेचारियों की अस्मत पर! और जो मोल

उस पशुता का गले बँधता उसे ढो सकने के लिए उन्हें ही कहीं ठांव न मिलती ! नसीब से कोई अगर अछूती बच निकलती तो उसे रहने को ठिकाना न मां-बाप के घर मिलता न ब्याहे पति के !

और यह सक्षमता अमृता प्रीतम की ही कविता में थी कि नारी की आपबीती को भी दर्पण की तरह सामने ले आयी और पुरुषवर्ग की सारी गुनहगारी को भी, जो अपने गुनाहों का दण्ड भी नारी पर डाले खड़ा था। पंजाब को काटा गया था एक हाथ से दूसरे की तरफ; नारी की आपबीती को लेकर अमृता प्रीतम ने एक और भी फांक ऊपर से नीचे तक पड़ी हुई दिखायी : नारीवर्ग और पुरुषवर्ग के बीच की फांक ! इतिहास इस फांक मे खड़ा पुकार रहा था कि पुरुष तो नारी के प्रति बार-बार ही अमानुष होता आया है। उसे जैसे पूरा इन्सान तक नहीं गिना गया।

यह सारी वस्तुस्थिति उजागर करते हुए अमृता प्रीतम ने अपनी कविताओं में एक ऐसे विश्व मानव की भी परिकल्पना की है, जिसे अपने भाग्य पर अधिकार हो, और जो मानवमात्र को प्रेम और शान्ति, उदार भाव और एकात्मकता से सम्पन्न कर सके। इस प्रकार, विभाजन और साम्प्रदायिक काण्डों के जाये उस 'अवसर' ने उद्भावना पायी अमृता प्रीतम के काव्य में : उस काव्य-त्रिवेणी मे जिसमें अतीत की स्मृतियां, वर्तमान की नरक-यातना, और भविष्य की एक आशा-सी उन्मुखर हुई थी। युग की विभीषिका उनकी आंखों आगे थी, और उनकी सृजन-शक्ति-सम्पन्न दृष्टि पंजाब के मानस को दूर भीतर तक तार-तार देख रही थी।

अमृता प्रीतम की उस दृष्टि से छिपा नहीं रह सका कि पंजाब स्वयं ही अपना शत्रु बना खड़ा है। और यही दृष्टि और प्रत्यक्ष ज्ञान चुनौती बने उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा को और उनकी निखिल मानवतावादी आस्था-निष्ठा को। यहीं निहित मिलता है वास्तविक उत्तर भी कि आंखों आगे की उस भीषण त्रासदी के जीते-जागते चित्र उपस्थित करते हुए भी, पंजाब की यह कवयित्री क्यों उस तात्कालिक में खो नहीं रही, और कैसे बनी रह सकी मानव और मानवता के प्रति उसकी आस्था-निष्ठा।

सभी आज स्वीकारते है कि पंजाबी साहित्य में, विशेषकर काव्य-

साहित्य के क्षेत्र में, अमृता प्रीतम अप्रतिम हैं। लगभग आधी शती का उनका साहित्यिक जीवन ही जैसे मापदण्ड है, पंजाबी साहित्य की गति-प्रगति का। पंजाबी साहित्य मे आधुनिक सवेदनशीलता के विकास में तो उनका योगदान किसी से भी कम नही। वे मानो नियत थी कि नये युग, नयी चेतना, और नयी सवेदनाओं का पदार्पण पंजाबी साहित्य में करायें। *उस युग का पदार्पण : जहा सौन्दर्यबोध और विचार-भावों के क्षेत्रों में* बन्धनमुक्तता हो, जहां धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीय चेतना के ताने-बानों में यथार्थता और उदारशीलता हो, और स्थान हो उन जीवन-मूल्यों के आकलन के लिए जो आधुनिक चिन्तन की देन है।

अमृता प्रीतम के लेखन का शक्ति-धन था वास्तव में उनके जीवन की अनुभूतिया, उनकी सच्चाई, और हार्दिकतापूर्ण चुनौती-भरी वाणी। यही कारणभूमि भी थी कि वे सभी समकालीनो से आगे आकर वाचा और स्वर दे सकी भारतीय नारी की चिरव्यथा को, जो शताब्दियो से मान और मर्यादा के लिए भटकती आयी थी। काव्य-रचना हो अमृता प्रीतम की, चाहे कथा-कृति, विषयवस्तु सब कही अन्त मे जा जुड़ती है पुरुषवर्ग के बनाये-सजाये समाज मे नारी की निरीह व्यथा से, निरालम्बता से। *कोई टेक कही हो सकती थी उसके लिए तो हार्दिक प्रेमभाव में, उसकी* अवधारणा मे।

प्रारम्भ से ही अमृता प्रीतम ने ध्यान आकर्षित किया अपनी सक्षमता और आत्मविश्वास के लिए। इन्ही के सहारे पैठकर वे उकेर सकी अंतरंग छवि उस प्राणी की जिसका नाम नारी है। अर्थात् छवि उन नाना विकृतियो और बिखरावो की जो उसके जीवन का तानाबाना बुने हुए हैं और जो देन है उस समाज की, स्वयं अपनी विवशताओ की। यह छवि है, सचमुच, इस अध-सामन्ती और अध-आधुनिक समाजतन्त्र के द्वारा उस पर लादे गये प्रतिबन्धो की, भीतर-भीतर खाती भूखी भावनाओ की, हताशा की, निश्चेष्टता की, और उस दारुण द्विधा की जो उसे घेरे आती कि जिये तो कैसे और न जिये तो क्यों!

सबसे विलक्षण बात तो अमृता प्रीतम की कविता की यह—वह चाहे व्यथा वेदना की हो चाहे किसी सामाजिक प्रतिबद्धता की— कि न तो वह

नितांत हताशा भाव को मुखर होने देती हैं न ही ठीक-ठीक बूझे-गुने बिना किसी भी प्रचलित विचार-भाव का अनुसरण ग्रहण करती है। उन्होंने दोनों सहज सम्भावनाओं में, भले ही सूक्ष्म, पर अचूक सन्तुलन बनाये रखा है। और यह भी इस स्वाभाविक आधार पर कि वे ऐसी सर्जनात्मक क्षमता का मानवप्राणी में होना मानती हैं जो कैसी भी स्थिति से पार ले सके।

एक अन्य मूल्यवान पक्ष अमृता प्रीतम के साहित्यिक कृतित्व का है: उनकी अन्वेषकता : नये-नये रूप-विधान ग्रहण करने की प्रवृत्ति। और यह इस दृष्टि से और भी कि जीवन की जटिलता को, अनुभूति के विविध पक्षों को, और इनमें से प्रत्येक के मूल्य-महत्त्व को ठीक से प्रत्यक्ष किया और कराया जा सके। हो सकता है उनके इस सारे दृष्टिभाव के मूल मे बसी हों आपबीतियां, उन अनगिनत जनों की जिन्होने विभाजन और उसके भीषण परिणाम झेले-भोगे, जो 'स्थित' से 'अस्थित' बन गये, और कहीं-कही तो जैसे पूर्ववत् अब भी नही हो पाये है।

अमृता प्रीतम के लेखन का प्रारम्भिक स्वरूप विभाजन के बाद रहा ही नहीं। अब न केवल उनकी रचनाओ का भीतरी और बाहरी सांचा ही जटिल हो चला, परस्पर-विरोधी भाव तक नही गुंथने लगे, बल्कि काव्य-विधा के संग-साथ लघु और सुदीर्घ कथा-विधाएं भी आ सम्मिलित हुईं। इनके माध्यम से अधिक सुगम.हो सका साक्षात्कार कराना नारी-मन और भावनाओं के बिखराव को, उसकी द्विविधाओं और आंतरिक विरोधों-भरी वस्तुस्थिति को। सचमुच एक उलझाव बन गयी थी नगरों के रहने वालों की मानसिकता—धर्मनिरपेक्षता के वातावरण के कारण! चेतना मे बसे आते थे सामन्ती युगों के सनातन मूल्य और बाहरी काया को घेरे खड़ी थीं मशीनी युग की धूप-छांव, देश की स्वतन्त्रता का दायज।

परिणाम यह कि जहां अमृता प्रीतम के मानस ने एक विस्तार पाया, वहां उन्हें नयी विचार-व्यवस्थाओं के जगाये हुए कल्पनादर्शों के महल भी टूटते-बिखरते मिले। फिर तो जो स्थिति उभरकर आयी सामने: एक असम्भव को सम्भव करने जैसी होती ही। एक ओर था अमृता प्रीतम का *आग्रह कि समाज मे न्यायभाव के लिए नया-नया उपजा हुआ उत्साह* अछूता बना रहे, और दूसरी ओर यह भी कि अपनी दृष्टि-भावना को,

किसी प्रकार का कहीं समझौता न करके, अक्षत बनाये रखें। अर्थात् मनुष्य के आत्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार पर किसी भी बहाने आते अंकुश को समर्थन नहीं देंगी।

अमृता प्रीतम की कथा-उपन्यास विधाओं में आयी कृतियों में 'पिंजर' और 'आह्लण' का उल्लेख करना आवश्यक है। इन दोनों पुस्तकों के द्वारा प्रस्तुत की गयी है सामाजिक पृष्ठभूमि नारी की उस जन्मजात यातना की जिसे विभाजन और उसके साथ जुड़ी-बंधी पाशविकताओं ने बहुत-बहुत बढ़ा दिया। बाद के उपन्यासों में जोर दिया गया है नारी और पुरुष के सम्बन्धों पर: सुख और आनन्द ने उन क्षणों पर जो एक-दूसरे को पाकर आप-से-आप उभरते और अनुभव होते है, और उस पीडा-व्यथा के ब्यौरों का जो दोनों के परस्पर पराया या पराया-जैसा हो जाने पर झेलने पड़ते हैं; साथ ही उस सघन ऊब और क्लान्ति का, जीवन की ही निरर्थकता का, जो अन्त में घेर-घेर आती है।

'कागज ते कैनवस' में अमृता प्रीतम की कुछ श्रेष्ठतम काव्य-रचनाएं सग्रहित है। उनका जो दृष्टिदर्शन यहां परिदर्शन होता है उसमे एक नया ही भाव-गाम्भीर्य है और है उसके समानान्तर एक आन्तरिक विवेकपूर्णता। यहां उनकी प्रमुख चिन्ता लगती है कि कैसे अमानवता की ओर बढ़ते मानव के चरण रुकें और कैसे विनाश से उसे बचाया जाये। संग्रह मे कई कविताएं वे भी सम्मिलित हैं जो गुरु नानक की पांचवी शतवार्षिकी से सम्बन्धित है और कई दृष्टियो से बड़ी महत्त्व की मानी जाती हैं।

इन रचनाओ में गुरु नानक देव जी का असामान्य मानवीय रूप तो प्रस्तुत किया ही गया है, दो अन्य नारीगत स्वाभाविक रूप भी उकेरे गये है; एक है मां की मनोभावनाओ का: जननी मां की, सबकी जननी-धारिणी धरती मां की, और निखिल सर्जना-शक्ति मां की कल्पनाओं का! इस सन्दर्भ में अमृता प्रीतम ने मानव की दैवी सम्भावनाओं की परिकल्पना की है। दूसरी नारीगत भावनाओं का रूप जिनसे यहा साक्षात्कार कराया गया है वह है नानकदेव जी की धर्म-पत्नी की विरहपीडा का। और यह तो आये दिन ही भोगनी पड़ती है उन्हे: क्योंकि गुरु नानक अपना सत्य और शान्ति का सन्देश लिये दिनों-दिनों के लिए चले जाया करते।

अमृता प्रीतम की कला कुशलता का प्रत्यक्ष परिचय उन रचनाओं और रचना-पक्तियों मे मिलता है, जहां वे चुन-चुनकर अन्तरतम की भाव-दीप्तियों तक को आखों आगे संमूर्त करती हैं : और करती है यह लोक-जीवन से लिये हुए बिम्बों के सहारे। ऊपर से विशेषता यह कि ये बिम्ब भी व्यक्ति-जीवन के नहीं होते, लोक-जीवन के अवचेतन स्तर से चुनकर लिये हुए होते है।

'कागज ते कैनवस' की कुछ कविताओं मे अमृताजी की काव्यप्रतिभा का एक अन्य आयाम भी गोचर होता है। यहां शब्दरूप दिया गया है उस सौन्दर्यमूलक कायिक प्रतीति को जो निखिल धरा और निखिल जीवन के मिलन-उत्सव में दृश्यमान होती है। कई अन्य कविताओ मे दृष्टिगत होती हैं छवियां उन पल-पल बदलते भावों की जो परितोषणा खोजते प्राणों और लय-ताल बंधे काल की पुकारों पर फूट-फूट आते है। यहा अमृता वैयक्तिक भी है और पारगत भी।

उपन्यास-विधा में अमृताजी की कुछ वर्ष पहले ही एक रचना आयी है 'उनीजा दिन' जिसे लेखकों और समीक्षकों दोनों ने सराहा है। इसमें मृत्यु की इच्छा को मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आयामो में देखने का प्रयत्न किया गया है। अन्य प्रमुख कृतियां हैं उनकी : काव्य-संग्रह 'लामियां वतन', 'कस्तूरी', 'मैं जमा तू'; उपन्यास 'चक नम्बर छत्ती' और आत्म-कथात्मक निबन्ध 'रसीदी टिकट'। सब लगभग 60 पुस्तकें उनकी प्रकाश में आ चुकी है। इनमे उपन्यास, कहानी-संग्रह, काव्यकृतियां और आत्म-वृत्तात्मक पुस्तकें भी है; और साहित्य का इतिहास, लोकसाहित्य विषयक भी। अनेक कृतियां न केवल अन्यान्य भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं, बल्कि कई तो विदेशी भाषाओं में भी।

- ☐ पुरस्कार स्वरूप डेढ लाख रुपया पाने वाली अमृता जी पहली रचनाकार हैं।
- ☐ पंजाबी के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली भी अमृता प्रीतम पहली रचनाकार हैं।
- ☐ ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली वे दूसरी महिला रचनाकार भी हैं। पहली है बांग्ला की आशापूर्णा देवी।
- ☐ रचना विशेष पर पुरस्कृत होने वाली अमृता प्रीतम पहले दौर की अंतिम रचनाकार हैं। अमृता जी को पुरस्कार मिलने के बाद से पुरस्कार के नियम मे एक संशोधन किया गया—इनके बाद रचना नही रचनाकार का समग्र लेखन प्रतियोगी हुआ। इस नये नियम के अंतर्गत महादेवी वर्मा, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, तकषी शिवशंकर पिल्लै, पन्नालाल पटेल, सच्चिदानंद राउतराय क्रमशः हिंदी, कन्नड़, मलयालम, गुजराती और उड़िया के लिए 18वें, 19वें, 20वें, 21वें और 22वें पुरस्कार से सम्मानित हुए।
- ☐ 23वें पुरस्कार से पुन: एक सुनिश्चित काल विशेष मे प्रकाशित रचनाओं को पुरस्कार की प्रतियोगी स्वीकार किया गया और तब 23वें पुरस्कार से यानी अमृता जी के बाद इस कड़ी मे जुड़े मराठी साहित्यकार वि० वा० शिरवाडकर कुसुमाग्रज। जुडे भी मगर एक तरह से नयी परंपरा के सूत्रधार भी हुए। 17वें पुरस्कार तक जहाँ एक काल विशेष मे प्रकाशित पुस्तक पुरस्कृत होती रही, वहीं 23वें पुरस्कार से एक काल विशेष में किसी रचनाकार के महत्वपूर्ण लेखन के बहाने रचना नहीं, रचनाकार पुरस्कृत होने लगे।

महादेवी वर्मा

जन्म : 1907

स्मृति शेष : 1987

प्रमुख कृतियां : यामा, दीपशिखा

भाषा : हिन्दी

विधा : कविता

पुरस्कार अवधि : 1977 से पूर्व की कालावधि में प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विशिष्ट योगदान

पुरस्कार अर्पण : 28 नवंबर, 1983 खेल गांव, नई दिल्ली

पुरस्कार राशि : डेढ़ लाख रुपया

अठारहवां पुरस्कार : 1982

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा का जन्म सन् 1907 में उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद नगर में एक सुसंस्कृत परिवार मे हुआ था। उनकी उच्चतर शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हुई, जहां से उन्होंने संस्कृत में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। लगभग उन्हीं दिनों हिन्दी के माध्यम से कन्याओं को साहित्य और संस्कृति की शिक्षा देने के उद्देश्य से प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्थापना हुई जिसकी पहली प्राचार्य के रूप में महादेवीजी को नियुक्त किया गया। स्थापना से लेकर जीवन के अन्तिम दिनो तक विद्यापीठ पर निरन्तर महादेवीजी का वरदहस्त रहा।

महादेवीजी का जीवन साहित्य और कला के प्रति समर्पित एकान्त साधना का जीवन रहा। फिर भी अपने कृती जीवन में उन्हें सभी प्रकार का मान-सम्मान प्राप्त होता रहा। साहित्यिक जीवन के आरम्भ मे ही उन्हे सेक्सरिया पुरस्कार से सम्मानित किया गया और कई वर्ष तक वे हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'चांद' की सम्पादिका रही। इसके बाद से मंगलाप्रसाद पारितोषिक, फिर स्वतन्त्र भारत मे 'पद्मभूषण' अलंकार से विभूषित और उत्तर प्रदेश विधान परिषद की सदस्या मनोनीत हुईं।

महादेवी वर्मा प्रकृति से कवि थी, किन्तु चित्रमय गद्य में रचित उनके संस्मरण भी कला की दृष्टि से कम मूल्यवान् नही हैं—उधर अपनी अमूर्त भावनाओं को रूपायित करने के लिए रंग-रेखा मे उन्होंने जो चित्र अंकित किये है उनकी भी अपनी सार्थकता है। महादेवी का कृतित्व परिमाण में अधिक विपुल नही है। उनके कुल पांच गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं: नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा, जिन्हें उनकी काव्य-चेतना के विकास-चरण माना जा सकता है। इनमें पहले चार पूरी साज-सज्जा और गुरु-गम्भीर भूमिका के साथ 'यामा' में संकलित हैं: गद्य-संकलन हैं 'शृंखला

की कड़ियां', 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं', 'पथ के साथी' और 'मेरा परिवार'। 'शृंखला की कड़ियां' मे भारतीय नारी की करुण दशा और दूसरी ओर उसकी प्रच्छन्न शक्ति तथा गरिमा का उच्छवासपूर्ण चित्रण है। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' में मार्मिक रेखाचित्र, 'पथ के साथी' में आधुनिक हिन्दी-साहित्य के शीर्षस्थ कवि-कलाकारो के भाव-स्निग्ध संस्मरण हैं और 'अपना परिवार' मे उनके अपने पालित पशु-पक्षियों के शब्द-चित्र हैं। जीवन के शाश्वत मूल्यो से पोषित उनके साहित्य-कला-विषयक विचार 'साहित्यकार की आस्था' नाम से प्रकाशित है। इन सभी कृतियों की रचना प्राय: दस-बारह वर्ष की कालावधि मे ही हुई है।

महादेवी प्रगीत-कवि है। स्वभावत: उनके काव्य का मुख्य विषय प्रेम है। इस प्रेम के वास्तविक स्वरूप के विषय मे कुछ मतभेद रहा है। छाया-वाद के उत्कर्ष-काल में कतिपय उत्साही आलोचकों ने इस पर अध्यात्म तथा रहस्यवाद का रंग चढाने का प्रयत्न किया, किन्तु विवेकशील पाठक और सुधी आलोचक यह मानने को तैयार नही हुए कि उनके समय के किसी कवि का ब्रह्म के साथ, प्रत्यक्ष या यथार्थ रूप में रागात्मक सम्बन्ध हो सकता है। पुराकाल से ही भारतीय प्रगीत-काव्य का प्रमुख विषय प्रेम ही रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर काव्य मे अंकित प्रेमानुभूति के दो सामान्य रूप मिलते हैं: पार्थिव प्रेम और अपार्थिव प्रेम। पार्थिव प्रेम मे आश्रय और आलम्बन दोनों ही भौतिक जगत् के प्राणी—रक्त-मांस के स्त्री-पुरुष—होते है और उनका प्रेम कामजन्य ऐन्द्रिय-मानसिक आकर्षण होता है। रीतिकाल के शृंगार-कवियों और छायावाद-परवर्ती गीतकारों का प्रति-पाद्य यही प्रेम है। यह ऐन्द्रिय प्रेम अनुभव की उच्चतर भूमिका पर परिष्कृत होकर उदात्त और अवदात प्रणय का रूप धारण कर लेता है जिसमें भोग के स्थान पर त्याग और आत्म-काम के स्थान पर आत्म-दान की भावना प्रमुख हो जाती है। इसी को सात्त्विक प्रेम या काव्यमय शब्दावली में, आत्माओं का मिलन कहा जाता है। अपार्थिव प्रेम के अन्तर्गत सगुण भक्तों की प्रेमाभक्ति और निर्गुण सन्तों के रहस्यवाद की गणना की जा सकती है। प्रेमा भक्ति के दो प्रमुख रूप है: (1) देव-युगल—राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि—का प्रणय-व्यापार और (2) भगवान के सगुण-साकार रूप के

प्रति मानव भक्ति की परानुरक्ति जो मीरा और अदाल के काव्य में मुखरित है। निर्गुण सन्तों का रहस्यवाद प्राकृत गुणो से विनिर्मुक्त किन्तु दिव्य गुणों के विग्रह, चिद्रूप ब्रह्म के प्रति मानव-आत्मा के उन्मुक्त आकर्षण का पर्याय है। इसके अतिरिक्त रहस्यवाद का एक अधिक उदात्त रूप भी है— मानव द्वारा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के साथ ऐकात्म्य की अनुभूति, जिसमें व्यक्ति-भावना का सर्वथा लोप हो जाता है।

प्रणयानुभूति के उपर्युक्त रूप-भेदों के सन्दर्भ मे यदि महादेवी के काव्य मे अभिव्यक्त प्रेम के स्वरूप का निर्वचन किया जाये तो कुछ एक भेदो का तो तत्काल ही अपवर्जन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ऐन्द्रिय प्रेम का यहां प्राय: अभाव ही है और देव-युगल की प्रणय-केलि मे भी कवयित्री की कोई रुचि नही है। 'यामा' के गीतों का अन्तर्वर्ती प्रणय-भावना में या तो ऐन्द्रिय प्रेम का शुद्ध परिष्कृत, सात्त्विक रूप मिलता है या फिर रहस्य-भावना की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति। महादेवी तथा छायावाद के अन्य कवियों ने ऐन्द्रिय प्रेम के उन्नयन के लिए अनेक कलात्मक युक्तियों का प्रयोग किया है। कही तो उन्होंने प्रकृति के प्रतीकों और कहीं धर्म-साधना के प्रतीकों—पूजा-अर्चना की सामग्री—आदि का उपयोग किया है और कही पौराणिक बिम्बों तथा रहस्यवाद की आध्यात्मिक शब्दावली का। इनके अतिरिक्त एक अन्य और शायद सबसे प्रभावी साधन है आलम्बन का आदर्शीकरण—पार्थिव-जैविक रूप के स्थान पर उसके भावमय रूप की प्रकल्पना। वास्तव में महादेवी के, या कहे कि सम्पूर्ण छायावादी काव्य में निरूपित प्रेम का पात्र व्यक्ति विशेष न होकर एक ऐसा कल्पित आलम्बन है जो जीवन के चरम सौन्दर्य और उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतीक है। उन्होने रहस्यवाद के प्रतीको का उपयोग भी प्राय: किया है किन्तु ये प्रतीक उनकी कला के प्रसाधन हैं, अनुभूति के विषय नही। फिर भी कुल मिलाकर महादेवी की काव्य-चेतना के संवर्धन मे इन सभी प्रयोगों की सार्थकता असंदिग्ध है : इनके द्वारा रागतत्व का अपूर्व संस्कार-परिष्कार और भाव की निर्वैयक्तिक संवेदना के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ है। भाव की यही निर्वैयक्तिक संवेदना कला की सिद्धि है—भाव की यही 'निर्विघ्न प्रतीति' है जिसे प्राचीन काव्य-मर्मज्ञों ने रस कहा है।

महादेवी ने जीवन के मधुर-कोमल रूपों—प्रेम और सौन्दर्य को अपने काव्य के प्रतिपाद्य रूप में ग्रहण किया है। किन्तु यह गीत प्रबल मनोवेग का सहज उच्छलन न होकर रमणीय कला-निर्मित ही है, जिसकी अन्विति किसी एक मूलवर्ती मनोराग पर नहीं वरन् कलात्मक अनुभूति पर निर्भर करती है। इससे राग-तत्त्व की क्षति तो अवश्य होती है, परन्तु भावना के अतिशय परिष्कार के द्वारा उसकी पूर्ति अनायास ही हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि महादेवी के गीत शुद्ध भाव-गीत न होकर कला-गीत हैं जिनकी संरचना में लोक-गीत की सहज स्वर-भंगिमा से अधिक परिष्कार-अलंकार और संस्कृत मुक्तक की यत्नसाध्य वैदग्ध्य-वक्रता की अपेक्षा अधिक सहजता मिलती है। कला-गीत के इसी रूप-बन्ध के अनुरूप उनकी काव्य-शैली भी सहज अलंकृत है : वह न तो मीरा की शैली के समान निराभरण है और न पन्त के शब्द-विधान के समान अतिशय अलकृत।

महादेवी के काव्य का केन्द्रीय भाव विरह है—विरह अर्थात् अभुक्त या निराश प्रेम, जो अमूर्त अथवा कल्पित आलम्बन के प्रति अनुराग की स्वाभाविक नियति है। अतः उनके बिम्ब-विधान का निर्माण अन्धकार और प्रकाश के प्रतीकों से हुआ है : अन्धकार निराशा या अवसाद का प्रतीक है और प्रकाश प्रेम का। अन्धकार के बिम्ब है सन्ध्या, रात्रि, मेघ-माला, पावस, आकाश, छाया, जलधारा, सागर, प्रलय आदि—और प्रकाश के बिम्ब है दीपशिखा, विद्युत, नक्षत्र, चन्द्र, कमल आदि। नीद अवसाद की व्यंजक है और स्वप्न प्रेम का। तम और प्रकाश के इन प्रतीक-रूपों के बहु-विध संयोजन-वियोजन के द्वारा महादेवी ने अपने चित्र-विचित्र बिम्ब-विधान की रचना की है। ये सभी बिम्ब मिलकर अन्त में 'दीपशिखा' के केन्द्रीय बिम्ब में समेकित हो जाते हैं जो महादेवी की काव्य-चेतना का आद्य प्रतीक है। कुछ आलोचकों की शिकायत है कि महादेवी के कला-प्रसाधन अत्यन्त सीमित हैं—उनमें वैविध्य नहीं है। यह ठीक है कि इनका चयन जीवन के सीमित क्षेत्र से हुआ है, अतः उनकी संख्या मे वैविध्य-विस्तार नहीं है, किन्तु उनकी संयोजना और गुंफन में निश्चय ही सुरुचिपूर्ण वैचित्र्य है। उपकरण वे ही है पर उनका विन्यास सर्वत्र भिन्न है। महादेवी कहीं भी चित्र की पुनरावृत्ति नहीं करतीं।

महादेवी की कला चित्रमय है। शब्दों के माध्यम से ही नहीं, रंग-रेखा के माध्यम से भी उन्होंने मोहक चित्र अंकित किये हैं। उनके अनेक गीतों के साथ संलग्न चित्र वस्तुत: उनके भाव-चित्रों के ही मूर्त रूप हैं। ये सभी चित्र 'कमल-दल पर किरण-अंकित' गीतिमय चित्र हैं।

हिन्दी काव्य में, वरन् कहना चाहिए कि भारतीय काव्य में—महादेवी जी का गौरवपूर्ण स्थान है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की उपलब्धि का मानदण्ड है छायावाद का काव्य, छायावाद का सार-सर्वस्व है उसकी प्रगीत-कला और प्रगीत का अत्यन्त मधुर रूप है गीत। महादेवी ने अपनी परिष्कृत सौन्दर्य-संवेदना और समृद्ध शिल्प-विधान के द्वारा गीत-कला को चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। भारतीय वाङ्मय में वैष्णव कवियों से लेकर रवीन्द्रनाथ और निराला तक गीतकारों की शानदार परम्परा रही है। महादेवी ने अपने इस समृद्ध रिक्त का भरपूर उपयोग ही नहीं किया, वरन् उसका गुणात्मक विकास भी किया है।

- ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली महादेवी वर्मा तीसरी महिला रचनाकार हैं। इनसे पूर्व बांग्ला के लिए आशापूर्णा देवी ने और पंजाबी के लिए अमृता प्रीतम ने यह गौरव प्राप्त किया था।
- हिन्दी के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाली महादेवी चौथी रचनाकार हैं। इनसे पूर्व सुमित्रानंदन पंत, रामधारीसिंह दिनकर और स० ही वात्स्यायन अज्ञेय के जरिए हिन्दी ने यह गौरव प्राप्त किया। जहां उपरोक्त तीनों साहित्यकारों ने क्रमश: अपनी पुस्तकों चिदंबरा, उर्वशी और कितनी नावों में कितनी बार के लिए यह पुरस्कार पाया वहीं महादेवी को उनके समग्र लेखन पर यह पुरस्कार मिला।
- समग्र लेखन पर पुरस्कृत हुए लेखकों में महादेवी प्रथम रहीं। इनके बाद मास्ति, तकषी, पटेल और सची को समग्र लेखन के आधार पर पुरस्कृत किया गया।
- यह पहला अवसर था जब किसी विदेशी के हाथों पुरस्कार समर्पित हुआ। महादेवी जी को पुरस्कार समर्पित किया था—ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्रीमती मार्गरेट थैचर ने।
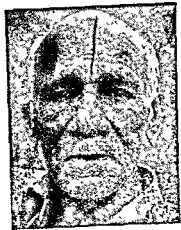
मास्ति वेंकटेश अय्यंगार

ख्यातनाम : श्रीनिवास
जन्म : 6 जून, 1891
स्मृति शेष : 1986
प्रमुख कृतियां : चिक्कवीर राजेन्द्र, भाव
भाषा : कन्नड
विधा : उपन्यास, आत्मकथा
पुरस्कार अवधि : 1978 से पूर्व के
भारतीय साहित्य में विशिष्ट योगदान
पुरस्कार अर्पण : 13 अप्रैल, 1985
चौड्डय्या मेमोरियल हाल, बंगलूर
पुरस्कार राशि : डेढ लाख रुपया
संपूर्ण राशि कन्नड साहित्य के
प्रचार-प्रसार के लिए भेंट की

उन्नीसवां पुरस्कार : 1983

मास्ति वेंकटेश अय्यंगार (श्रीनिवास)

नवम्बर 1904 में मैसूर के एक तेरह वर्षीय किशोर के साथ घटित हुआ था यह संयोग। एक सुबह वह एक महत्वपूर्ण बाजार मे निरुद्देश्य इधर-उधर भटक रहा था। अकस्मात् बाजार के सामने स्थित घण्टाघर की घड़ी पर उसकी दृष्टि गयी और सहसा ही उसे याद आया कि अरे, आज तो उसे लोअर सेकेण्ड्री की परीक्षा में बैठना है। परीक्षा-केन्द्र था महाराजा कॉलेज और उस समय दस बजने वाले थे। वह धक् से रह गया। फिर भी वह दौड़कर अपने घर गया, अपना प्रवेश-पत्र उठाया और किसी प्रकार ठीक समयपर परीक्षा-भवन पहुच ही गया। परीक्षा प्रारम्भ होने ही वाली थी। बाद मे इस घटना पर सोच-विचार करते-करते, कि किस प्रेरणा ने उसकी दृष्टि घड़ी की ओर उठवा दी जिसे देखकर उसे अपनी परीक्षा का स्मरण हो आया और कैसे वह ठीक समय पर परीक्षा-भवन पहुच गया, उसे यह विश्वास हो गया था कि इस सबके पीछे दिव्य करुणा का हाथ था।

6 जून, 1891 को मैसूर के एक गांव मास्ति में जन्मे मास्ति वेंकटेश अय्यगार यह घटना प्राय: सुनाते थे और यह है भी उन्ही से सम्बन्धित। परम सत्ता की अनुकम्पा की गरिमा एवं बुद्धिमत्ता मे मास्तिजी की असीम श्रद्धा थी और वह स्वय को उसी दिव्य-चेतना की सन्तान मानते थे।

परन्तु मास्तिजी की आस्था किसी संकीर्ण धार्मिक मताग्रह से सम्पृक्त नही थी। उन्होंने बुद्ध, ईसा, मुहम्मद तथा रामकृष्ण परमहंस सभी पर पूर्ण श्रद्धा के साथ लिखा है। उनकी आस्था उन्हें नैतिक जगत् की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए उत्प्रेरित करती है जिसका हमारी संस्कृति की मनीषा से पूर्ण सामंजस्य है। यह आस्था जीवन-मूल्य एवं अर्थवत्ता की ओर गतिशील रहती है और उनका लेखन मूलभूत मानव मूल्यों के प्रतिष्ठान की उनकी अन्त:प्रेरणा का मात्र एक संवाहक बन जाता है। ये मूल्य ही तो है जो मनुष्य की अन्तर्निहित महत्ता को उद्घाटित करने वाली अन्तर्दृष्टि की

सृष्टि करते हैं। यही कारण है कि मास्ति सोल्लास ऐसे चरित्रों की रचना करते है, और अत्यधिक कुशलता के साथ करते है, जिनमें मनुष्य की अन्तर्दृष्टि किसी भी आवेग द्वारा धूमिल नही पड़ती; मनुष्य जो एषणा-विजय में देववत् है परन्तु फिर भी अत्यन्त मानवीय एव करुणामय है। हमारा अभिप्राय यह संकेत करना नही है कि मास्ति मानव-स्वभाव के 'दूसरे पक्ष' की अवहेलना करते है। वह निश्चित रूप से मानव-दुर्बलता के प्रति सहानुभूति व्यक्त कर सकते हैं। किन्तु यह तो कहना ही होगा कि उनकी मूल रुचि मानव-प्रकृति की पवित्रता एवं शुभता में है। वह जीवन की पारदर्शी स्वच्छता के प्रति पूर्णतः संवेदनशील रहे हैं। मास्तिजी की अन्तर्दृष्टि मूलतः नैतिक है। उनकी चेतना परम्परा-सिंचित मूल्यो से ओतप्रोत है। मास्तिजी का यह गुण उनकी 'सांस्कृतिक जड़ों की गहराई मे निष्ठा' के रूप में पहचाना गया है। उनसे मच का महत्वपूर्ण स्थान 'यशोधरा' मे बुद्ध, 'चेन्नबसव-नायक' में नेमय्या, 'भट्टर मगलु' मे भट्टारु, 'वेंकिटगड हैंडल्ली' मे प्रशिक्षित लकड़हारे आदि के लिए सुरक्षित हैं। उनके गौण पात्रो तक मे जीवन की क्रान्ति और प्रसन्नता झलकती है जो सामान्यतः समाज की पतनोन्मुखता के मध्य भी मानव जीवन के मूल्य की साग्रह पुष्टि करती है। चेन्नबसवनायक की नौकरानी मल्लिगे इस प्रकार के चरित्र-चित्रण का श्रेष्ठ उदाहरण है।

परन्तु मास्ति यह कभी विस्मृत नही करते कि मनुष्य दिव्य शक्ति के उपकरण मात्र हैं। 'भाव' में वह कहते हैं: "समुद्र की लहरें लट्ठों को कूल से समुद्र में खीच लाती है, और इच्छानुसार दूर तक उससे खिलवाड करती रहती है और उन्हें उलट-पलट करती हुई वापस कूल पर फेंक देती है।" तथापि उनकी इस धारणा ने उन्हें जन-साधारण के हर्ष-विषाद के ससार में प्रवेश करने से कही रोका नही। बहुत पहले उन्होंने कहा था—"ईश्वरीय हर्ष विषाद से हमारा सम्बन्ध नही, हमारा सम्बन्ध तो मानवीय हर्ष-विषाद से है। हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनुष्य को पोषक आस्था प्रदान करता है। एक ऐसी आस्था जो उसे जीवन के सुख-दुखों को समान भाव से स्वीकार करने की सामर्थ्य देती है।" उनके लेखन मे यह दर्शन कभी धूमिल नही पड़ता। इतना ही नही, उनके लिए "साहित्य का प्रयोजन

समष्टि एवं व्यष्टि के लिए मंगलकारी होना है।"

इन विशेषताओं ने मास्ति जी के लेखन को एक अद्वितीय परिपूर्णता से मंडित कर दिया। एक प्रख्यात कन्नड विद्वान् एवं आलोचक ने उन्हे ठीक ही, *'परिपक्वता का कवि'* कहा है। *वह तो यहां तक कहता है कि* "मास्ति के लिए दुनिया, कीट्स की एक अभिव्यंजना 'आत्मा के निर्माण की एक वादी' है।" इस परिपक्वता की चारित्रिक विशेषता शान्तचित्तता है, आवेश नही। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मास्ति वेदना एवं यंत्रणा के प्रति उदासीन हैं। वस्तुत: तो उनके समस्त प्रमुख पात्र, उदाहरणत: सुब्बण्णा और उसकी पत्नी ललिता, बुद्ध की अर्द्धांगिनी यशोधरा, राजसी दम्पती चिक्क वीरराजेन्द्र और गौरम्मा, नेमय्या और उसकी पुत्री शान्तव्वा *तथा गौतमी विषाद और उत्पीडन से घनिष्ठ रूप से परिचित हैं। उनमें से* प्रत्येक एक जीता-जागता इन्सान है और फिर भी एक प्रतीक है। और यह इसलिए, *क्योंकि यह भूलना नहीं चाहिए कि वेदना के अंगीकरण के अभाव* में परिपक्वता प्राप्त हो ही नही सकती। तथापि वेदना, विषाद और कुण्ठा से उत्पन्न होने वाले विकारों से आत्मा (जो कि मास्तिजी का लक्ष्य है) का सौष्ठव प्रभावित नही होना चाहिए।" मास्तिजी के अनुसार "वेदना और उथल-पुथल के बीच भी आत्मा का सौष्ठव बना रहना चाहिए।" उनकी *मान्यता है कि मानव-आवेश का विक्षोभ ही उसे विनाश की ओर ले जाता* है और 'चिक्क वीरराजेन्द्र' का यही कथानक भी है।

मास्तिजी का उल्लेख प्राय: एक स्वच्छन्दतावादी के रूप मे किया जाता है। इसका *किंचित् स्पष्टीकरण अपेक्षित है—मनुष्य की चारित्रिक* विशेषताओं, आवेश एवं उत्तेजना को उन्होने अधिक महत्त्व नही दिया; न ही उनमे कोई रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि है। उनकी अन्तर्दृष्टि तो मानवीय जीवन मे एक पवित्र उद्देश्य पर टिकी है, अन्त: सौष्ठव, संयम और दिव्य चेतना उनके लेखन को अभिजात कान्ति से दीप्त कर देते हैं। यही वह दीप्ति है जिसने अपने अन्य समकालीनो के साथ कन्नड़ साहित्य में पुनरुत्थान युग का आविर्भाव किया।

मास्तिजी की रचनाओं का आस्वादन इसी संदर्भ मे होना चाहिए। वह उन महान् कन्नड़ लेखकों में से हैं जिन्होंने साहित्य की समृद्धि में विशिष्ट

योगदान किया है। किन्तु मास्तिजी के सम्बन्ध में सर्वाधिक उल्लेखनीय तो यह है कि उन्होंने साहित्य की समस्त विधाओं—कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, आख्यानेतर गद्य, समालोचना आदि में समान रूप से सफलता प्राप्त की।

मास्तिजी 'आधुनिक कन्नड़ कहानी के जनक' के रूप में प्रख्यात हैं। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक कहानियां 1910-11 में लिखी और उनके 15 कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। मास्तिजी ने उपन्यास भी लिखे हैं, जिनमें उनके दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'चेन्नबसवनायक' और 'चिक्क वीर-राजेन्द्र' सम्मिलित हैं। पहले उपन्यास की पृष्ठभूमि अट्ठारहवी शताब्दी में दक्षिण भारत की एक जागीर बिडानूर है और दूसरे उपन्यास का कथासूत्र कुर्ग, 1934 में जिसका शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने आधिपत्य में ले लिया था, के अन्तिम शासक से सम्बद्ध है। कन्नड़ के कुछ ही उपन्यासों में समाज और बहुमुखी सामाजिक सम्बन्धों का इन दो उपन्यासों के समकक्ष सूक्ष्म एवं गहन चित्रण हुआ है और तब भी मास्ति मात्र उत्तेजित एवं प्रेरित करने के लिए प्राचीन सामन्तवादी समाज की पुनर्सृष्टि करते हुए-से प्रतीत नहीं होते। उन्होंने तो एक राज्य के पतन एवं विघटन का अध्ययन किया है और स्वयं स्त्री-पुरुषों में भी उनके कारण खोज निकाले हैं। उनकी गद्य-शैली की विशेषता शालीनता एवं संयम है। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा है। इन्हीं के कारण उनका सरल वर्णन गहन अनुभव की महत्ता प्राप्त कर लेता है। मास्तिजी की शैली को न्यूनतम शब्दों में एक सम्पूर्ण अनुभव सम्प्रेषित करने की विलक्षण क्षमता प्राप्त है।

वर्णन की यही विलक्षणता और शैली की यही सादगी उनके काव्य में भी व्याप्त है। 'नवरात्रि' एवं 'श्रीरामपट्टाभिषेक' उनके दो महत्त्वपूर्ण काव्य हैं। एक समालोचक के अनुसार "उनकी सभी कविताओं में अन्तर्जात विनयशीलता एवं परिष्कार का रंग है। शब्द-चयन सर्वत्र सरल है और भाषा शब्दकोशीय एककों तथा उनमें मेल बिठाने, दोनों ही दृष्टियों से दैनन्दिन जीवन की भाषा के निकट है।"

साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी मास्तिजी का योगदान अमूल्य है। जब आधुनिक कन्नड़ साहित्य और साहित्य-समीक्षा अपनी शैशवावस्था में थे,

"उन्होंने साहित्य के महत्व को पहचाना और इस बात पर बल दिया कि इसका मूल्यांकन साहित्यिक सृजनात्मकता के रूप में किया जाना चाहिए, धर्म अथवा दर्शन के रूप में नहीं।" हो सकता है कि उनकी साहित्य सम्बन्धी कतिपय उक्तियों से हम सहमत न भी हों तब भी उनकी इस आधारभूत धारणा की वैधता कालातीत है कि "सत्साहित्य को व्यक्ति को परिपक्वता और समाज को मंगल प्रदान करना चाहिए।" और उनकी रचनाओं का यही संदेश भी है।

- कन्नड के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार दिलाने वाले मास्ति चौथे रचनाकार है। उनसे पहले तीसरे पुरस्कार के सहविजेता कु० वें० पुट्टप्प, नौवें पुरस्कार के सहविजेता द० रा० बेंद्रे और तेरहवें पुरस्कार के विजेता के० शिवराम कारंत यह गौरव कन्नड को दिला चुके थे।
- मास्ति को जहां समग्र लेखन के लिए पुरस्कृत किया गया वहीं उनके पूर्ववर्तियों को क्रमशः उनकी पुस्तक 'रामायण दर्शनम्', 'नाकुतंती' और 'मूकज्जिय कनसुगलु' के लिए यह पुरस्कार मिला।
- मास्ति जी ने पुरस्कार मे मिली राशि एक संस्था को इस आशय से दे दी थी कि वह उनका साहित्य सदा सुलभ रखे।
- मास्ति जी ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वालो में सबसे अधिक आयु के साहित्यकार थे।
- यह तीसरा अवसर था जब पुरस्कार समारोह दिल्ली से बाहर आयोजित हुआ। मास्तिजी को बंगलूर में पुरस्कार समर्पित किया गया।

तकषी शिवशंकर पिल्लै

जन्म : 17 अप्रैल, 1912

प्रमुख कृतियां : रंटिटंड्पी, चेम्मीन, कॅयर

भाषा : मलयालम

विधा : उपन्यास

पुरस्कार अवधि : भारतीय साहित्य को अमूल्य योगदान के लिए

पुरस्कार अर्पण : 10 नवंबर, 1985 खेल गाव, नई दिल्ली

पुरस्कार राशि : डेढ़ लाख रुपया

बीसवां पुरस्कार : 1984

तकषी शिवशंकर पिल्लै

तकषी शिवशंकर पिल्लै का जन्म अप्रैल, 1912 में केरल में एल्लैपी के दक्षिण में दसेक मील की दूरी पर बसे एक छोटे गांव तकषी में हुआ था। दक्षिण भारत के बहुत से प्रतिष्ठित लेखकों, कवियों तथा संगीतज्ञों की भांति शिवशंकर पिल्लै को भी उनके ग्राम तकषी के नाम से जाना जाता है। उनके पिता कृषक थे, सज्जन थे और विद्वान् थे। वे कथकली के पारखी थे। यह शायद इसलिए भी था कि वे हमारे युग के महानतम कथकली नर्तक कुंजकुरुप के भाई थे। यह परिवार संस्कृत की संस्कृति एवं केरल की देशी कला मे समृद्ध था। केरल परिवारो की परम्परा के अनुसार, धुंधकला होते ही परिवार का मुखिया दीपक के पास बैठकर हिन्दुओ के महाकाव्यों 'महाभारत' और 'रामायण' का पाठ करता था और बालक तकषी मन्त्र-मुग्ध होकर अपने पिता के मुख से इन कहानियों को सुना करता था।

इस प्रकार तकषी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। छोटे बालक के रूप मे वह तकषी स्कूल गया और तत्पश्चात् अम्बालापुषा के मिडिल स्कूल में। समुद्र के किनारे पर स्थित स्कूल मछुआरो की बस्ती मे दायी ओर था। यही वह स्थान था जहां तकषी जीवन में पहली बार मछुआरे पुरुष-स्त्रियों के सम्पर्क मे आये। बाद में, युवक के रूप में, एक वकील की हैसियत से काम किया। बहुत से मछुआरे उनके मुवक्किल थे। पेरीकुट्टी और करुकम्मा उन्ही व्यक्तियों मे से थे, जिनसे वह मिले थे तथा जिनके जीवन और पीडाओं को उन्होंने निकट से जाना-समझा था।

अम्बालपुषा के मिडिल स्कूल मे अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद तकषी त्रावनकोर राज्य की तत्कालीन राजधानी त्रिवेन्द्रम चले गये। वकालत के पाठ्यक्रम की शिक्षा हेतु वह विधि महाविद्यालय मे भर्ती हो गये। उस समय त्रिवेन्द्रम एक जीवंत स्थान था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम पूरे जोर पर था। शीघ्र ही वह वहां एक छोटे से बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्य बन गये

जो नियमित रूप से के० बालकृष्ण पिल्लै के निवास-स्थान पर एकत्र होता था। बालकृष्ण पिल्लै एकमात्र साहित्यिक पत्रिका 'केसरी' के सम्पादक थे। वह एक ऐसी बुद्धिजीवी गोष्ठी के नेता थे जो राजनीति और साहित्य पर विचार-विमर्श किया करते थे। बहुत से युवा लेखक तथा राजनीतिज्ञ उनके ओजस्वी नेतृत्व के अन्तर्गत उभरे, जिनमे से कुछ ने आगे चलकर केरल के बौद्धिक और राजनैतिक जीवन को नेतृत्व प्रदान किया।

इसी स्थान और काल मे तकषी के पठन-पाठन तथा बौद्धिक विकास का क्षेत्र विस्तृत हुआ। उन्होंने अंग्रेजी और यूरोपियन साहित्य, जिनमे फ्रायड और मार्क्स का नाम उल्लेखनीय है, का व्यापक अध्ययन किया। उन्होंने केसरी मे कई छोटी कहानियां लिखी, जिनमें से 'बाढ़ मे' तथा 'फेयर बेबी' कहानियों ने उन्हें उज्ज्वल भविष्य युक्त नये लेखक के रूप मे स्थापित किया।

1934 में तकषी जी की प्रकाशित पुस्तक 'पुधुमलार' (नए अकुर) नाम से आयी। यह एक कथा-संकलन था। इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। इसके बाद इनका प्रथम उपन्यास 'प्रतिफलम्' (पुरस्कार) प्रकाशित हुआ जो प्रकाशन के कुछ सप्ताह के भीतर ही पूरा बिक गया। उसी वर्ष दूसरा उपन्यास आया 'पतितपंकजम्' (झरा हुआ कमल)। उनकी कलम कहानियां ही कहानियां लिखती चली गयी, संकलन के बाद संकलन प्रकाशित होते गये जिनमें से 'अतियोपुक्कुल्ल' (अन्तर्धारा), 'नित्यकन्निका' (अविवाहिता) तथा 'चंगातिकल' (कामरेड) सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे।

अभी तक मलयालम साहित्य में मध्यवर्ग का जीवन ही सर्वाधिक चित्रित किया गया था। तकषी और उनके समसामयिक लेखकों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से साधनविहीन गरीब आदमी को साहित्य में प्रविष्ट किया। राष्ट्रीय संघर्ष ने स्वाधीनता आन्दोलन में जनसाधारण की भूमिका पर विशेष बल दिया। यह त्रावनकोर जैसी तुलनात्मक रूप से बेहतर प्रशासित तथा एकान्त-प्रिय पड़ोसी राज्यों में भी जंगल की आग की तरह फैल गया। काग्रेसी राज्य की स्थापना हुई और जैसा कि अपरिहार्य था, तकषी भी इसकी चपेट में आ गये। एक अथवा दो बार अपने राजनैतिक क्रिया-कलापों के कारण वह गिरफ्तार होते-होते बचे और छुपना पड़ा। उनका सर्वाधिक

चर्चित उपन्यास 'तोट्टियुडे माकन' (भंगी का बेटा) इन्ही भूमिगत होने के दिनों मे त्रिचूर के पास वडक्कचेरी में लिखा गया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के आस-पास, तकषी अम्बालपुषा में वकालत करने के लिए लौट आये। वकील के रूप में रुकावट आती रही और कहानी-लेखन की मात्रा मे बढ़ोत्तरी होती रही।

1947 में 'तोट्टियुडे माकन' (भंगी का बेटा) प्रकाशित हुआ। यह मलयालम का व्यापक रूप से चर्चित उपन्यास बना। यह एक नौजवान भंगी की कहानी है, जो अछूतों का भी अछूत है। इसका चित्रण इतनी ईमानदारी और पूर्ण वास्तविकता से हुआ है कि यह पाठक को गहरे में कुरेदता चला जाता है।

1948 मे 'रंतिटंडषी' (दो सेर धान) प्रकाशित हुआ। इसने तकषी को मलयालम मे अपने समय के अग्रणी उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। तकषी के अपने शब्दों में, 'रंतिटंडषी' उस जीवन के अत्यन्त निकट है जो उन्होंने अनुभव किया, जाना तथा एक किसानबेटे के रूप में जिसकी पीडा को वहन किया।

'रंतिटंडषी' में अछूत कामगार-वर्ग 'पुलायार' का चित्रण है, जो अपने भू-स्वामियों के लिए कठोर श्रम एवं प्राय: अपमानजनक परिस्थितियो में भूमि पर खेती-बाड़ी करते हैं। समस्त परिस्थिति का अंकन पूर्ण निष्ठा से *किया गया है, मगर जहां तक तकषी की सहानुभूति का प्रश्न है उसमें किसी* प्रकार की त्रुटि नहीं हुई है।

'रंतिटंडषी' के बाद और छोटी कहानियां तथा लघु उपन्यास प्रकाश मे आये। मार्च 1956 में 'चेम्मीन' का प्रकाशन हुआ, जिस पर तकषी जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ।

'चेम्मीन' पर स्वर्गीय रामू करियात द्वारा फिल्म बनाई गई थी, जिसे वर्ष 1956 में सर्वश्रेष्ठ भारतीय फिल्म के रूप में राष्ट्रपति का स्वर्णपदक प्रदान किया गया। यूनेस्को ने अपने पूर्व-पश्चिम कार्यक्रमों के अन्तर्गत इसे अनुवाद के लिए चुना।

तकषी द्वारा लिखा गया अगला महत्वपूर्ण उपन्यास 1959 में 'ओसे-पिण्टे मक्कल' (ओसेप के बच्चे) नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने

केरल में रहनेवाले ईसाई समुदाय में विद्यमान गरीबों की कुंठाओं, समृद्धों की सवेदन-शून्यता, गरीबों के अनिवार्य सौजन्य और उनकी क्षमाशीलता का चित्रण किया है।

1978 में तकपी जी के 'कॅयर' का प्रकाशन हुआ। यह उपन्यास उनकी एक महान्-कृति के रूप में सामने आया। यह उनकी अब तक की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अब तक इसके आयामों, इसकी व्यापक दृष्टि और इसकी सघन अन्तर्दृष्टि वाला कोई अन्य भारतीय उपन्यास नहीं आया है, जिसमें मनुष्य मात्र समय-चक्र एवं परिवर्तन मे इस प्रकार उलझ गया हो और तब भी उसका अभ्युदय सम्मानजनक एवं निरापद ढंग से हुआ हो। व्यक्ति विशेष अधिक महत्व नहीं रखते। यह तो सामाजिक संगठन है जो उस स्थिति अथवा संपोषण से शक्ति ग्रहण करता प्रतीत होता है, जिसका उसे सामना करना पड़ा हो अथवा जिसके सामने उसे छोड़ दिया गया हो।

'कॅयर' का कथाकाल 200 वर्षों तक फैला हुआ है, इसमें छः पीढ़ियों का अंकन है तथा इसके चरित्रों की संख्या लगभग एक हजार है। इस उपन्यास के लिए तकपी ने केरल के एक ग्राम को चुना है और इसके धीमे किन्तु निष्ठुर विकास को उस प्रथम अधिकारी के आगमन, जो वहां 250 वर्ष पूर्व भूमि की सीमाएं तथा स्वामित्व को चिह्नित करने एवं निर्धारित करने गया था, से लेकर आज के नक्सलवादी आन्दोलन तक चित्रित किया है। इसमें कोई नायक अथवा नायिकाएं नहीं हैं, क्योंकि वास्तविक नायक स्वयं वह गांव है, जो परिवर्तित होते समय के साथ जीवित रहता है, विकसित होता है तथा रूपान्तरित होता है।

लेखक के रूप में तकपी की प्रतिष्ठा एक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक हुई है, लेकिन उनकी छोटी कहानियां—मात्रा एवं गुणता दोनों में, उन्हें समसामयिक मलयालम साहित्य में विशिष्ट स्थान दिलाने की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में, तकपी ने अपना लेखन कहानियों से ही प्रारम्भ किया था। आज तक कुल मिलाकर उन्हें लगभग 500 कहानियों की रचना करने का श्रेय प्राप्त है।

तकपी की कहानियों के विषादपूर्ण एवं सार्थक संसार मे स्नेह और सावधानी, जीवन में व्याप्त आश्चर्य, मानवीय जीवन और भोले-भाले

पशुओं के मर्मस्पर्शी क्षण अंकित हैं। 'बाढ़ में' में कुत्ते, 'कराच्येल निन्नू' में दो मासूम बच्चों के प्रेम, 'नित्य-कन्निका' की विषादपूर्ण दुर्दशा, 'पेन-मावक्कल' में दो बहनों की अशुभ नियति, 'पट्टालक्करन' के अकेलेपन, 'मंचु-वाट्टिल' के मर्मस्पर्शी एकतरफा प्रेम, 'कुरुतं के चरितार्थम्' में नेत्रहीन की गहन रूप से अनुभव होने वाली उदारता, सभी के प्रति लेखक का गहरा सरोकार रहा है।

तकषी अपने कथा-साहित्य में चरित्रों के मनोभाव, स्वरों, स्थितियों को एक अथवा दो वाक्यांशों में व्यक्त कर देते हैं। वह हमें प्रतिक्षण रेत के एक कण में सम्पूर्ण संसार तथा एक घंटे में अनन्तकाल की झलक देने की क्षमता रखते हैं।

तकषी रेखाचित्रांकन करने वाले लेखक हैं। उन्होंने पैंतीस उपन्यास एवं लगभग पांच सौ कहानियां लिखी हैं। उनके निबन्धों, यात्रा-विवरणों तथा विविध लेखन का यहां उल्लेख नहीं किया गया है, मगर उनके समस्त लेखन में आज तक कोई भद्दा वाक्यांश देखने में नहीं आया है। श्री तकषी इस समय अपने जीवन के 80 वर्ष पार कर चुके हैं, मगर परिवर्तन शीलता एवं विकास उनके लेखन में अभी भी विद्यमान है। विकास का अभिप्राय केवल उनकी रचनात्मकता में नहीं अपितु उनके चरित्र से भी है। इस प्रकार की निरन्तर प्रवाहपूर्ण, इतनी अधिक संवेदनशील और खोजकारी लेखनी से की जा सकने वाली आशा की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

- ☐ मलयालम के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार अर्जित करने वाले तकषी तीसरे रचनाकार हैं। उनसे पूर्व मलयालम को यह गौरव दिलाया पहले पुरस्कार के रूप मे गो० शंकर कुरुप ने और सोलहवें पुरस्कार के रूप में शं० कु० पोट्टेक्काट ने।
- ☐ कवि कुरुप को उनके काव्य-संग्रह 'ओडक्कुपल' के लिए और पोट्टेक्काट को उनके उपन्यास 'ओरु देशत्तिन्ते कथा' के लिए पुरस्कार मिला वहीं तकषी को उनके समग्र लेखन के लिए।
- ☐ तकषी को पुरस्कार समर्पित किया मैक्सिकन कवि आक्टोवियो पाज ने, जो स्वयं 1990 में नोबल पुरस्कार विजेता हुए।

पन्नालाल पटेल

जन्म : 7 मई, 1912
स्मृति शेष : अप्रैल, 1989
प्रमुख कृतियां : मलेला जीव, मानवीनी भवाई
भाषा : गुजराती
विधा : उपन्यास
पुरस्कार अवधि : भारतीय साहित्य को अमूल्य योगदान के लिए
पुरस्कार अर्पण : 16 दिसंबर, 1986 खेलगांव, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : डेढ लाख रुपया

इक्कीसवां पुरस्कार : 1985

पन्नालाल पटेल

गुजराती उपन्यास की दुनिया में पन्नालाल पटेल का उदय एक अद्भुत घटना के समान है। उनका नाम 'सरस्वतीचन्द्र' के महान लेखक गोवर्धन राम और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जैसे महान लेखकों के समान ही आदर एवं सम्मान से लिया जाता है। उपर्युक्त दोनों लेखक उपन्यास लेखन की कला के उस्ताद थे, जो पन्नालाल पटेल के पूर्ववर्ती थे।

पन्नालाल पटेल के बारे में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने बहुत मामूली औपचारिक शिक्षा प्राप्त की थी। उनके अलावा आधुनिक युग के सभी महान लेखक उच्चशिक्षा प्राप्त हैं जो समस्त आधुनिक विश्व साहित्य से निरन्तर सम्पर्क बनाये हुए हैं। उन्होंने स्कूल में आठवी कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की और जीवनपर्यंत वे बहुत अधिक अंग्रेजी नहीं पढ़ सके। यहां तक कि वह थोड़ी-बहुत संस्कृत भी नही जानते थे। लगता है साहित्य रचना का वरदान उन्हें ईश्वर की ओर से मिला था।

उनका जन्म 17 मई, 1912 को गुजरात और राजस्थान की सीमा पर स्थित मांडली गांव मे हुआ था। जब वे स्कूल में पढ़ते थे तो उस समय महान गुजराती कवि उमाशंकर जोशी उनके सहपाठी थे। छात्र के रूप में मेधावी होने के कारण दोनों ही स्कूल मे एक-दूसरे के मित्र बन गए थे। लेकिन थोड़े ही समय में दोनो के रास्ते अलग हो गये। उमाशंकर जोशी अपने शिक्षण-अध्ययन में आगे और आगे ही बढ़ते गये जबकि पन्नालाल पटेल ने शिक्षा को पूर्णतः तिलांजलि दे दी।

स्कूल छोडने के बाद कुछ वर्षों तक पन्नालाल ने घुमक्कड़ी जीवन जिया और कल्पनाओं मे विचरण करते रहे, क्योंकि इत्तफाक से उन्हे एक साधु का सम्पर्क मिल गया, जिसके साथ वह अपने घर से भाग निकले। यह तो कोई नही जानता कि साधु से उन्हें कितना ईश्वरत्व अथवा धर्मलाभ प्राप्त हुआ, लेकिन यह निश्चित है कि साधु के साथ रहते हुए जीवन के बारे में

विस्तृत जानकारी प्राप्त की।

पन्नालाल का कण्ठ सुरीला था और वह बहुत अच्छा गा सकते थे। साथ ही वह ग्रामीण लोगों द्वारा गाये जाने वाले गीतों की शैली में गीत रचना कर सकते थे। लेकिन लेखकरूप में रचना करना उनकी कल्पना से परे था।

उन्होंने ग्रामीण जीवन को अत्यन्त निकट से आत्मसात किया। ग्रामीण जनों के प्रेम और घृणा, उनकी रुचि, अरुचि, आकांक्षाओं एवं हीनताओं, स्थानीय चातुर्य एवं सहज भोलापन, इन सबके बारे में उन्हें अपनी उंगलियों की नोक के समान ही जानकारी थी और उन्होने एक कवि सुलभ स्वभाव पाया था जिसने उन्हें पुरुष नारी के बीच के प्रेम सम्बन्धों को अनुभव करने की क्षमता प्रदान की थी।

कई वर्षों तक यायावरी करने और जीवन को आत्मसात करने के बाद पन्नालाल पटेल की भेंट अपने स्कूली जीवन के पुराने मित्र श्री उमाशंकर जोशी के साथ हुई। जब उन दोनों की मुलाकात हुई और उन्होंने बातचीत की तो उमाशंकर ने उन्हें भी लेखन के प्रति समर्पित हो जाने का सुझाव दिया क्योंकि उनके पास, वह सब था जिसके बारे में अन्य लेखक अपना निकट परिचय होने का दावा नहीं कर सकते थे अर्थात् जीवन का नम्बर एक अनुभव। पन्नालाल को यह सुझाव पसंद आया और उन्होने लेखन-कार्य प्रारंभ कर दिया। उस समय वह अहमदाबाद में रह रहे थे और वहीं एक बड़े बिजली काम्पलेक्स में कार्य कर रहे थे। उनके कार्य की प्रकृति कुछ ऐसी थी कि लिखने के लिए उन्हें पर्याप्त समय मिल जाता था। उस समय श्री उमाशंकर जोशी बम्बई मे रहते थे। उन्होंने पन्नालाल का परिचय एक अन्य प्रख्यात कवि एवं कथाकार श्री सुन्दरम से कराया और उन्हें श्री सुन्दरम से मार्ग निर्देशन लेते रहने तथा अपनी रचनाएं उन्हें दिखाते रहने का परामर्श दिया।

पन्नालाल ने एक-एक करके बहुत-सी छोटी कहानियां लिखीं और उन्हें सुन्दरम के पास ले गये। सुन्दरम सबको उस दिन तक एक-एक करके अस्वीकार करते रहे जब तक पन्नालाल उनके पास 'शेठनी शारदा' शीर्षक कहानी लेकर नहीं पहुंचे। सुन्दरम को यह कहानी इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने

उसे प्रख्यात लेखक झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित एक प्रसिद्ध पत्रिका में प्रकाशन के लिए तुरन्त भेज दिया। शीघ्र ही कहानी छप गई और पाठकों को बहुत पसन्द आयी। पन्नालाल का साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हो गया। पन्नालाल को ख्याति देने वाली कुछ कहानियों के बाद, 1940 में एक लघु उपन्यास 'वलामना' शीर्षक से आया। झवेरचन्द मेघाणी ने उसकी भूमिका लिखी, जिसमें उन्होंने इस रचना को वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानी की सज्ञा दी।

इसके बाद उन्होने पीछे की ओर मुडकर नही देखा। एक के बाद दूसरी कहानी आती गयी और एक उपन्यास के बाद उससे बेहतर उपन्यास। इन समस्त कहानियो की पृष्ठभूमि में वह गाव था जिसके कण-कण के साथ पन्नालाल के रोम-रोम का परिचय था। इन कहानियो के पाठक उन क्षेत्रों की भाषा बोलते थे और वहा रहने वाले लोगों के समान व्यवहार करते थे।

उस समय तक बहुत कम लोग इस बात को स्वीकार कर पाते थे कि ग्रामो मे रहने वाले स्त्री-पुरुष, जो सीधे-सादे देहाती लोग लगते थे और पूर्णतः अशिक्षित थे, उसी प्रकार की भावनाओं एवं संवेदनाओं से युक्त थे जैसे कि शहरो में रहने वाले सुसंस्कृत स्त्री-पुरुषो मे मिलती है तथा उनके सुख एवं दुःख, उनकी पीड़ाएं एवं आनन्द हर दृष्टि से समान प्रकृति के थे। अन्तर केवल उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार और उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा में थे। ये सीधे-सादे लोग अपने आपको जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त करते थे और जिस भाषा में उनके जीवन तथा भावनाओं को काव्यात्मक सौंदर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति अथवा मानवीय उच्चता प्राप्त हुई थी, उसकी विशिष्टता को केवल उसी समय समझा गया जब पन्नालाल पटेल ने अभिव्यक्ति की इस शैली का प्रयोग किया। उन्होने अपनी रचनाओं में अधिकांशतः उन्ही क्षेत्रों की बोलियों का प्रयोग किया है जिनके बारे मे वे रचनाएं लिखी गयी हैं, मगर उसे इतने भावपूर्ण एवं सशक्त ढंग से प्रयोग में लाया गया है कि गांव की बोली का सौन्दर्य पूरे निखार पर मुखरित हो सका है।

1945 मे पन्नालाल पटेल की लेखनी से एक श्रेष्ठ कृति ने जन्म लिया। इसका नाम था 'मलेला जीव'। यह एक प्रेम कथा थी जिसमें

त्रासदी व्यंजित हुई थी। इस कहानी के प्रेमियों—काजी और जीवी का चित्रण इतनी अधिक मार्मिक अन्तर्दृष्टि से किया गया था कि ये नाम गुजरात के घर-घर में प्रवेश कर गए।

इस पुस्तक का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि साहित्य अकादमी की स्थापना पर अकादमी ने प्रत्येक भारतीय भाषा से अनुशंसित दस पुस्तकों का समस्त भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने की योजना तैयार की तो उपन्यास 'मलेला जीव' को गुजराती भाषा के परामर्श मण्डल द्वारा अनुशंसित प्राप्त दस पुस्तकों में स्थान मिला।

यद्यपि यह रचना महान थी, मगर इसका क्षेत्र एवं विस्तार इतना गहन नहीं था जितना कि 1947 में प्रकाशित कृति 'मानवीनी भवाई' का। इस उपन्यास के प्रकाशन ने पन्नालाल पटेल को गुजराती साहित्य के कालजयी रचनाकारों की श्रेणी में खड़ा कर दिया।

इस उपन्यास का क्षितिज जीवन के क्षितिज के समान ही विशाल था, हालांकि वह जीवन ग्रामीण गुजरात के छोटे से क्षेत्र के आसपास केन्द्रित था। निःसन्देह, उसमें एक प्रेम कथा है, मगर यह केवल इस उद्देश्य तक सीमित रचना नहीं है। इसमें जीवन की अपेक्षाकृत अन्य बड़ी समस्याओं को, लोगों के सामने आए घनघोर संघर्षों एवं कष्ट-पीड़ाओं को व्यक्त किया गया है, जिनका सामना उन्होंने वर्ष 1900 के आसपास गुजरात के विस्तृत क्षेत्र में पड़े विनाशकारी अकाल के समय किया था। इसमें जहां एक ओर प्रकृति की शक्तियों के सामने दुर्बल मनुष्यों के तत्काल समर्पण एवं झुकते जाने का चित्रण है तो दूसरी ओर इसमें मनुष्य के उस अजेय जीवन का अंकन भी है जो किसी भी मुसीबत के सामने घुटने टेकने को तैयार नहीं होता। इस उपन्यास का नायक कालू, मनुष्य की इस महानता का प्रतीक है, हालांकि वह कोई बहुत पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं है और गुजरात के एक छोटे से गांव का निवासी है। नियति की प्रतिकूलताओं के विरुद्ध मनुष्य के गौरव एवं सम्मान के रक्षक के रूप में कालू का चित्रांकन केवल गुजराती साहित्य में ही अनुपम नहीं है, अपितु शायद वह समस्त भारतीय साहित्य में एकदम अनूठा है। उसके तमाम कष्टों, संघर्षों और पीडाओं से जूझते रहने के समय उसके साथ उसकी सदा-सदा की प्रेमिका राजू खड़ी रहती है। राजू

को वह जीवन पर्यन्त प्रेम करता रहता है, मगर जिससे अपने आसपास रहने वाले क्षुद्र स्त्री-पुरुषों के षड्यन्त्र के कारण वह विवाह नहीं कर पाता है। इन क्षुद्र स्त्री-पुरुषों की छोटी दुनिया का चित्रांकन लेखक ने उतनी ही कलात्मकता एवं श्रेष्ठता से किया है जितनी कलात्मकता से उसने काकू एवं राजू के संघर्ष के वीरतापूर्ण संसार और विनाशकारी अकाल की विराट दुनिया का चित्रण किया है।

उपन्यास का अन्तिम दृश्य वर्षा की पहली बूंद के साथ समाप्त होता है जो भयंकर अकाल की समाप्ति का द्योतक है। वर्षा की बूंदों ने उस समय गुजरात की झुलसती धरती को शीतलता पहुंचाई होगी, मगर इस उपन्यास ने निश्चय ही उनके लिए जीवन के अर्थों को समृद्ध किया है जिन्होंने इस महान उपन्यास में अपने बारे में पढ़ा है।

पन्नालाल पटेल के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है और उन्हें बहुत से सम्मान प्रदान किये गये हैं। उन्होंने स्वयं बहुत से उपन्यास और कहानियां लिखी हैं। लेकिन उनका यह उपन्यास 'मानवीनी भवाई' उनके अपने लेखन में ही सर्वश्रेष्ठ नहीं है, अपितु गुजराती भाषा में रचित बहुत-सी रचनाओं में भी उत्कृष्ट है।

- गुजराती के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार अर्जित करने वाले पन्नालाल पटेल दूसरे साहित्यकार हैं। पहले थे उनके बाल सखा कवि उमाशंकर जोशी जो तीसरे पुरस्कार के सहविजेता थे।
- उमाशंकर जोशी को जहां उनकी काव्य-कृति 'निशीथ' के लिए यह पुरस्कार मिला वहीं श्री पटेल को समग्र लेखन के लिए।
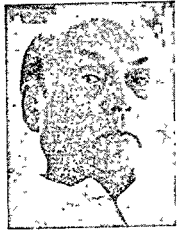
सच्चिदानंद राउतराय

ख्यातनाम : सची राउतराय

जन्म : 1916

प्रमुख कृतियां : पाथेर, पांडुलिपि

भाषा : उड़िया

विधा : कविता

पुरस्कार अवधि : भारतीय साहित्य को अमूल्य योगदान के लिए

पुरस्कार अर्पण : 28 मार्च, 1988 फिक्की सभागार, नई दिल्ली

पुरस्कार राशि : डेढ़ लाख रुपया

बाईसवां पुरस्कार : 1986

सच्चिदानंद राउतराय (सची)

1916 मे जन्मे सच्चिदानन्द राउतराय ने अपनी पहली कविता तब लिखी थी जब वे स्कूली छात्र थे और उनका पहला कविता संकलन 1932 में प्रकाशित हुआ था जब उनकी आयु केवल 16 वर्ष थी। एक वर्ष बाद उनका एक काव्य नाटक प्रकाशित हुआ तथा 1937 में उनका दूसरा काव्य संकलन। उसके बाद से उनका सर्जनात्मक लेखन निरंतर जारी है और अब तक उनके 18 काव्य संकलन, चार कहानी-संग्रह, एक उपन्यास, एक काव्य नाटक, साहित्य समीक्षा की तीन पुस्तकें तथा साहित्यिक मूल्यों पर एक महत्वपूर्ण अनुसधान-कार्य प्रकाश में आ चुके हैं। लेखन के साथ ही उनके कृतित्व को मान्यता भी मिलती गयी। राउतराय पद्मश्री(1962), केंद्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार (1964), सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार (1965), आंध्र विश्वविद्यालय (1977) तथा बरहमपुर विश्वविद्यालय (1978) से मानद डाक्टरेट प्राप्त कर चुके है। वे अखिल भारतीय कवि सम्मेलन (कलकत्ता—1960) तथा उड़ीसा साहित्य अकादमी (1968-1981) के अध्यक्ष भी रहे। उन्होंने फिल्म सेंसर बोर्ड को अपनी सेवाएं दी तथा संसार के विभिन्न देशों में आयोजित साहित्यिक संगोष्ठियों में भाग लिया। उड़िया की एक साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका के वे संपादक हैं तथा उड़िया कला-कृति संग्रहालय के संस्थापक हैं।

सर्वप्रमुख उड़िया लेखक सच्चिदानन्द राउतराय पिचहत्तर वर्ष के हो गये हैं। उनकी नेत्रदृष्टि कम होती जा रही है, तथापि, आयु और शारीरिक क्षीणता ने उनकी रचनाशीलता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाला है और अभी भी वे अपने साहित्य-सृजन में संपूर्ण मुस्तैदी एवं कर्मठता से जुटे हुए हैं। मात्र 84-85 के वर्षों में उनकी कविताओं के दो महत्वपूर्ण संकलन, एक कथा-संग्रह और एक साहित्यिक आलोचना की पुस्तक

प्रकाशित हुई हैं। साठ वर्षों से लेखन मे रत साहित्यकार के लिए यह कोई नगण्य उपलब्धि नहीं है ।

राउतराय की प्रसिद्धि एवं ख्याति 1939 में प्रकाशित उनकी लंबी कविता 'बाजी राउत' के प्रकाशन पर हुई। इस कविता में एक बारह वर्षीय नाविक बालक की शहादत का अंकन है जो ब्रिटिश शासन के विरोध मे प्रदर्शन के दौरान पुलिस की गोलियों का शिकार हो गया था। यह पुस्तक एक लघु महाकाव्य के रूप मे प्रख्यात हुई तथा उड़िया के नवयुवकों के लिए प्रेरणा का स्रोत रही। 1942 में हारीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने 'बाजी राउत' तथा कुछ अन्य कविताओं का अंग्रेजी मे अनुवाद किया जिससे राउतराय की उडीसा के बाहर भी प्रसिद्धि हुई।

राउतराय को साहित्य के शिखर की ओर ले जाने वाला एक अन्य काव्य संकलन 'पल्लीश्री' (1942) था, जिसमे उडीसा के ग्रामीण जीवन एवं समाज से संबंधित कविताएं हैं। ग्रामीण सादगी एवं ग्राम्य जीवन को काव्यात्मक आनन्द प्रदान करने वाली कतिपय श्रेष्ठ रचनाओ में आज भी इन कविताओं की गणना की जाती है। इन कविताओं तथा 'पाण्डुलिपि' और 'अभिजान' जैसे अन्य काव्य संकलनों के प्रकाशन के साथ राउतराय उड़ीसा में आधुनिक और प्रगतिशील लेखकों के अग्रदूत बन गये। 1955 में माडर्न रिव्यू प्रेस, कलकत्ता, ने 'जन-कवि सची राउतराय' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें हुमायूं कबीर, कालिदास नाग, वी०सत्य-नारायण और के० आर० श्रीनिवास आयंगार जैसे प्रख्यात साहित्यकारों के लेख हैं। इन पुस्तक ने राउतराय को अखिल भारतीय यश दिया और उन्हें सदासर्वदा के लिए जनता के कवि के रूप में मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

राउतराय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियो में आधुनिक उड़िया कविता को नया मुहावरा तथा सवेदना प्रदान करना है। उनकी कृति 'पाण्डुलिपि' उस नव काव्य की अग्रदूत थी जिसने उड़िया कविता को काव्य स्वातन्त्र, गद्य-काव्य और बोलचाल की भाषा जैसे नये रूप प्रदान किये। इस पुस्तक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में उन्होने उड़िया नई कविता का वास्तविक घोषणापत्र प्रस्तुत किया जिसमें उन्होने 'काव्यिक रीति' के

स्थान पर 'वाक-रीति' अपनाने की वकालत की है।

नये-नये काव्य-रूपों मे प्रयोग करने के साथ-साथ राउतराय ने अपनी कविता मे विषयों की विविधता को भी अपनाया है। प्रारंभिक रचनाओं की रोमानी भाव-भूमि से निकलकर परवर्ती रचनाओं मे उन्होंने यथार्थ-वाद, समाजवाद, यहां तक कि मार्क्सवाद को भी स्थान दिया। वास्तव में, यह प्रवृत्ति उनकी प्रारंभिक रचनाओं में भी परिलक्षित होती थी। अपनी ग्रामसम्बन्धी कविताओं की श्रृंखला मे उन्होने शांत और रमणीय ग्रामीण जीवन के ही गीत नही गाये, अपितु कृषक-जीवन की चुनौतियों, पीड़ाओ एवं विषाद को भी वाणी दी। युद्ध के दौरान उन्होंने हिटलर, बर्लिन, स्पेन के सम्बन्ध मे कविताएं लिखी। उसके बाद भी उन्होने कोरिया, मुजीबुर्रह-मान, याह्या खान के संबंध में कविताएं लिखी, जिनमें उनकी राजनीतिक सवेदना एवं समसामयिक घटनाओं के प्रति प्रतिक्रियाओं की जानकारी मिलती है।

राउतराय ने सदैव जीवन, स्वातन्त्र एवं न्याय के पक्ष में कलम उठाई; उन्होने ऐसे समाज की परिकल्पना की है जिसमे प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है, समान है और सम्मान एवं आशा का जीवन जीता है। उन्होने क्लर्क, दुकानदार, किसान जैसे आम लोगों के बारे मे कविताएं लिखी, मगर उनकी कविताएं प्रचारवादी रचनाएं नही हैं। राउतराय मूलत: कवि है और उनकी कविताएं किसी घटना विशेष के समर्थन एवं किसी उत्सव पर हर्षो-ल्लास व्यक्त करते समय भी गहरी अनुभूति, श्रेष्ठ शैली एवं गहन संवेदन-शीलता के कारण तात्कालिकता से ऊपर उठ गयी है। यहां तक कि उनकी कविताओं से सामान्य वामपंथी अनुभूति और अतियथार्थवादी काव्य को भी अत्यधिक मधुर और रमणीय काव्य शक्ति का स्पर्श मिला है।

☐ उड़िया के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले सची राउतराय दूसरे साहित्यकार हैं। इनसे पूर्व यह गौरव मिला था उड़िया उपन्यासकार गोपीनाथ महांती को जो नौवें पुरस्कार के सहविजेता थे। उन्हें उनके उपन्यास 'माटीमटाल' के लिए पुरस्कृत किया गया जबकि सची को समग्र लेखन पर।

विष्णु वामन शिरवाडकर

ख्यातनाम : कुसुमाग्रज
जन्म : 27 फरवरी, 1912
प्रमुख कृतियां : वाडालवल, रथयात्रा, छंदोमयी
भाषा : मराठी
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : 1967 से 1982
के बीच भारतीय साहित्य को विशेष योगदान
पुरस्कार अर्पण : 11 मार्च, 1989
बिड़ला मातुश्री सभागार, बंबई
पुरस्कार राशि : डेढ़ लाख रुपया

तेईसवां पुरस्कार : 1987

विष्णु वामन शिरवाडकर 'कुसुमाग्रज'

वि० वा० शिरवाडकर नासिक जिले के पिपलगांव बसवंत से पांच किलोमीटर दूर शिरवाडे गांव के निवासी हैं, इसीलिए उनका नाम शिरवाडकर पड़ा। इसी पिपलगांव बसवंत में 27 फरवरी, 1912 को जन्मे कुसुमाग्रज बस्ता उठाये मराठी स्कूल में पढ़ने जाते थे। पाराशरी नदी में नहाते, तैरते, डुबकियां लगाते, गर्मियों के दिनों में पेड़ से कच्ची अमिया तोड़कर, पहरेदारों की गालियों की बौछार का नमक-मिर्च लगा, खाते बालपन व्यतीत हुआ था। बालकाल से ही साहित्य के प्रति रुचि होने के कारण शिवाजी चिपलूनकर, केशवसुत, रामगणेश गड़करी, खाडिलकर आदि साहित्यकारों की उत्कृष्ट पुस्तकें इन्होने पढ़ डाली थी। विद्यार्थी जीवन में किशोरवय की भावनाओं की उत्ताल तरंगो से मन-मानस उद्वेलित हो उठा और भाव को शब्द रूप प्राप्त हुआ। 1929 में 'बालबोध मेवा' नामक मासिक पत्रिका मे जिसके संपादक देवदत्त नारायण तिलक थे—इनकी पहली कविता छपी थी। 1930 से 1934 तक नासिक के हं०प्रा० ठा० महाविद्यालय के छात्र जीवन में उनकी कविताएं 'जीवन लहरी' के नाम से प्रकाशित हुई। श्रेष्ठ पत्रिकाओं—यशवंत, रत्नाकर, प्रतिभा आदि मे भी उनकी कविताएं छप रही थी। साहित्य सृजन की विशिष्ट अभिरुचि के कारण उन्हे बंबई से निकलने वाले 'धनुर्धारी' मे काम मिला। लेखन को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। 'विशाखा', 'समिधा', 'किनारा' के बाद 'मराठी माती' को 1970 का, 'स्वागत' को 1962 का और 'हिमरेषा' को 1964 का राज्य पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कुसुमाग्रज की कविता अनुभवों की उत्कटता का सुंदर रूप है। 'स्व' का प्रदर्शन उनके स्वभाव मे नही। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—"कवि सामाजिक मन को व्यक्त करता है। तब वह वस्तुत: कहता तो अपने ही मन की बात है, परन्तु व्यापक रूप मे वह समाज की संपत्ति होती है।

समाज में मौजूद किसी मनोभाव को कवि अधिक व्यापक रूप में आत्मसात करने में समर्थ होता है, उसे अपने मन के अंतरतम तक ले जा सकता है।" कुसुमाग्रज का मन 'स्व' की संकुचित परिधि को लांघ कर दूर कही छलांग लगाता हुआ मन है। इसी कारण उनकी मनोभिव्यक्ति समाज-मन की अभिव्यक्ति है। 'विशाखा' की अनेक कविताएं इस सत्य को प्रकट करती हैं।

शिरवाडकर जी ने 1944 से नाटक लिखना प्रारंभ किया। 'दूर चे दिवे', 'दूसरा पेशवा', 'बैजयंती', 'कौन्तेय', 'ययाति देवयानी', 'बीज म्हणाली धरतीला', 'वैकेट', 'एक होती वाघीण' और 'नटसम्राट' उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। 1946 में बेलगांव के मराठी साहित्य सम्मेलन मे 'दूर चे दिवे' का—जो ऑस्कर वाइल्ड के 'आयडियल हसबेंड' का भावानुवाद था—मंचन हुआ और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। उनके नाटको का कथ्य केवल एक काल से ही बंधा हुआ नही, पर एक शाश्वत रूप से बंधा है—जिसमे मानव के सूक्ष्म अंतरतम तक पहुंचने की ताकत है।

उन्होंने जो नाटक लिखे हैं वे भव्यता, दिव्यता, श्रेष्ठता, श्रेष्ठतम की अभ्यर्थना करने वाले है। 'ययाति देवयानी' की कथावस्तु महाभारत की मात्र कथा नही है। उसमें एक नवीन अर्थ, नवीन रूप, नवीन सौन्दर्य और नवीन चेतना है। मनुष्य की मनुष्यता की तलाश है। 'बीज म्हलाणी धरतीला' नाटक में प्रारंभ-गीत में झांसी की रानी को सूर्य की पंखुडी कहा गया है। यह झांसी की रानी एक ओर अग्नि की ज्वलत शिखा है, ज्वाला है, लपट है, तो दूसरी ओर उसमें पंखुड़ी की कोमलता, मादकता और सुगंध है। जब वह सर्वसाधारण के बीच रहती है तब उसमे पंखुड़ी की कोमलता और प्रफुल्लता है; पर रणक्षेत्र मे जब युद्ध के लिए जाती है तब उसमें भास्कर की प्रचंड अग्नि का दहन है।

शिरवाडकर जी के नाट्य कौशल का उत्तुंग शिखर 'नटसम्राट' है, जिसे 1971 का महाराष्ट्र राज्य और 1974 में अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस नाटक का गणपतराव वेलवलकर नाट्य वाग्मय का एक महान चरित्र है और शिरवाडकर जी की दिव्य प्रतिभा का एक उत्कृष्ट उदाहरण 'नटसम्राट' एक प्रतिभासंपन्न कलाकार के जीवन का दुखांत है। हिंदी में

जैसे जयशंकर प्रसाद के सभी नाटकों में कवि व्यक्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, उसी प्रकार शिरवाडकर जी के नाटकों में कवि रूप सर्वत्र विद्यमान है। उनके नाटक 'पृथ्वी से प्रेमगीत', 'कोलवस चे गर्वगीत' और 'तिलक की प्रतिमा' काव्य के नाट्य रूप ही हैं।

गीतों की सुरीली तान को झंकृत करने वाले कवि भावना का स्पंदन और उसकी धड़कन को नाटकों में शब्द रूप प्रदान करने वाले नाटककार, उपन्यासकार तथा कथाकार भी है। 'वैष्णव', 'जाह्नवी' और 'कल्पनेच्या तीरा वर' उनके प्रसिद्ध उपन्यास है। उनकी कथा-कहानियां पत्रिकाओ के दीपावली अंकों में प्रकाशित हुई हैं। उनकी कहानियो की विशेषता है उपेक्षित वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति एवं मानव स्वभाव की सद्प्रवृत्ति की ओर देखने का दृष्टिकोण !

इस प्रकार कुसुमाग्रज मराठी साहित्य सृष्टि के ज्येष्ठ ही नहीं, एक व्यापक संस्थारूप व्यक्तित्व है। नासिक शहर के वे भूषण हैं। लोकहित-वादी मडल एवं नासिक सार्वजनिक वाचनालय उनके स्नेहसदन हैं, वे गभीर प्रकृति के हैं।

उनके 13 काव्य-सग्रह, 10 नाटक (7 अनुवादों और रूपांतरों को छोड़कर), 6 कहानी-संग्रह, 3 उपन्यास और अनेक एकांकी-संग्रह, बाल-कहानियां, आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हो चुके है। परन्तु कुसुमाग्रज मूलतः एक कवि और नाटककार हैं। 1934 में प्रकाशित 'जीवन लहरी' से लेकर 1984 मे प्रकाशित 'मुक्तायन' तक कुसुमाग्रज की काव्य-यात्रा अत्यधिक भव्य रही है। भारत छोड़ो आदोलन मे वर्ष 1942 मे प्रकाशित उनके कविता-संग्रह 'विशाखा' ने उन्हें रातोरात प्रसिद्धि दिला दी, इतनी आकस्मिकता के साथ कि वह इससे स्वयं आश्चर्यचकित रह गये होंगे। भाव-प्रवण कविता के रूप मे उत्कृष्ट इस संग्रह की अनेक कविताओं में स्वाधीनता-संघर्ष की आत्मा को मुखरतापूर्वक अभिव्यक्त किया गया। पुरस्कार के लिए निर्धारित अवधि (1967-82) में उनके तीन महत्वपूर्ण संग्रह प्रकाशित हुए हैं—वाडालवल, रथयात्रा, और छन्दोमयी।

उनकी कविता आदर्शपरक आत्मा का उत्सव मनाती है जो जीवन में आलोक की खोज में रत है। वह सदैव अपने सहजनों के सामूहिक मस्तिष्क

से एकाकार होने के लिए लालायित रहते है और अपने नवीनतम संग्रह 'मुक्तायन' (1985) में उन्होंने एक बार फिर अपनी यही इच्छा व्यक्त की है, किन्तु इस बार एक संतोषानुभूति के साथ। उनका प्रेरक आदर्शवाद जीवन के अंधेरे और निराशापूर्ण पक्ष की अवहेलना नही करता, किन्तु वह इस अंधकार पर विजय प्राप्त करने वाली मानव-शक्ति के प्रति आसक्ति-पूर्वक सचेत हैं। यही वह तत्व है जिसने उनकी कविता मे अन्यतम शक्ति का समावेश कर दिया। इस प्रकार कुसुमाग्रज की कविता गीतात्मक तथा चिंतनात्मक दोनों ही है और उनकी गीतात्मकता का सम्मोहन समृद्धि कल्पना द्वारा और भी बढ़ जाता है जो अमूर्त को रूप प्रदान करती है, असीम को सीमा में बाध लाती है और जो सजीव चित्रमयता के साथ अनुभूति से आप्लावित सूझ-भरे बिम्ब उभारती है। यह असामान्य बिम्ब-विधान स्वयं को एक ऐसी शैली और भाषा मे ढालता है जो क्लासिकी संस्कृत की शालीनता और गरिमा प्रकट करता है।

कुसुमाग्रज के नाटक गडकरी की नाटकीय प्रस्तुतियों की काव्यात्मक शैली की परम्परा में हैं और तब भी ययाति, नटसम्राट आदि नाटक उनकी मौलिक नाटकीय प्रतिभा के पर्याप्त प्रमाण देते हैं। वह वर्तमान में अतीत को ढूढ निकालने या अतीत में वर्तमान को ढूढ निकालने के लिए इतिहास अथवा पुराण का अन्वेषण नही करते, बरन् वह उनमे नाटक की शब्दा-वली में मनुष्य जीवन की शाश्वत विविधताओं को खोजने का प्रयास करते है। साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता 'नटसम्राट' मे वह महान गणपतिराव बेलवलकर का चरित्र चित्रित करते है। इस महान अभिनेता के जीवन-मूल्य आये-दिन की दुनिया के मूल्यों से निरंतर टकराते रहते है। यह टकराव भ्रांतियो और मूल्यो के माध्यम से सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। विषय-वस्तु की प्रबलता और नाटक की समझ के साथ ही कुसुमाग्रज के नाटको मे भाषा का ओज और सौन्दर्य एक महत्वपूर्ण तत्व है।

80 वर्ष की अवस्था में भी उनकी लेखनी निरंतर गतिमान है और भारतीय वांग्मय को समृद्ध कर रही है।

☐ मराठी के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने का गौरव दिलाने वाले कुसुमाग्रज दूसरे रचनाकार है। इनसे पूर्व मराठी को यह गौरव दिलाया था—विष्णु सखाराम खांडेकर ने अपने उपन्यास 'ययाति' के लिए दसवां ज्ञानपीठ पुरस्कार अर्जित करके।

☐ अमृता प्रीतम के बाद कुसुमाग्रज ऐसे रचनाकार है जिन्हे समग्र लेखन पर नही एक कालावधि मे प्रकाशित रचनाओं पर यह पुरस्कार दिया गया। लेकिन एक दृष्टि से भिन्न भी। सत्रहवें पुरस्कार तक यानी अमृता प्रीतम के पुरस्कृत होने तक जहां एक कालविशेष मे प्रकाशित कृति पर पुरस्कार देने की प्रथा थी, वही इस तेईसवें पुरस्कार के समय एक विशेष कालावधि में प्रकाशित कृतियों पर जैसे कुसुमाग्रज को सन् 67 से 82 के बीच प्रकाशित तीन महत्वपूर्ण पुस्तको—वाडालवल, रशमात्रा और छंदोमयी के लिए। 18वां, 19वां, 20वां, 21वां और 22वां पुरस्कार क्रमशः महादेवी (हिंदी), मास्ति (कन्नड़), तकषी (मलयालम), पन्नालाल पटेल (गुजराती) और सची राउतराय (उड़िया) को रचना विशेष पर नही समग्र लेखन पर दिये गये थे।

☐ यह चौथा अवसर था जब पुरस्कार समारोह दिल्ली से बाहर आयोजित हुआ। कुसुमाग्रज को पुरस्कृत किया गया—बिडला मातुश्री सभागार, बंबई मे।

सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी

ख्यात नाम : सिनारे
जन्म : *1931*
प्रमुख कृतियां : मध्यतरगति, मन्दहासम
मंटलु-मानवुडु
भाषा : तेलुगु
विधा : कविता
पुरस्कार अवधि : *1968-82* के बीच
भारतीय साहित्य को उत्कृष्ट योगदान
पुरस्कार अर्पण : 29 दिसंबर, 1989
कमानी सभागार, नई दिल्ली
पुरस्कार राशि : डेढ़ लाख रुपया

चौबीसवां पुरस्कार : 1988

डा० सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी

वर्ष 1988 के प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित डा० सि० नारायण रेड्डी अपनी पीढी के सर्वाधिक जाने-माने कवियों मे मे है। काव्य-रचना में गीतात्मक उत्कृष्टता और शब्द-माधुर्य के कारण हर तेलुगु परिवार उनके नाम से परिचित है। तेलुगु समाज मे वे 'सिनारे' नाम से लोकप्रिय हैं जो कि सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी का सक्षिप्त रूप है।

चार दशको से भी अधिक समय से काव्य-सृजन मे रत डॉ० रेड्डी की अब तक चालीस से भी अधिक कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें कविता, गीत, सगीत-नाटक, नृत्य-नाट्य, निबन्ध, यात्रा-संस्मरण, साहित्य-लोचन तथा गजलें (मौलिक तथा अनूदित) सम्मिलित है। इन कृतियों में से अनेक मे वे एक प्रवर्तक के रूप में उभरते है। आधुनिक तेलुगु कविता पर परंपरा तथा प्रयोग के प्रभाव का विश्लेपण करते हुए 1967 में उन्होने जो शोध प्रवन्ध लिखा था, वह प्रकाशित होते ही स्थायी महत्त्व की कृति बन गया।

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में एक प्राध्यापक के रूप मे तथा सार्वजनिक मंच पर अपनी आलोचनात्मक कुशाग्रता, तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि और काव्य-सवेदना के कारण साहित्य और विशेपतः काव्य के व्याख्याता के रूप में डॉ० रेड्डी ने अप्रतिम सफलता अर्जित की है। उनकी काव्य-गोष्ठियों में प्रशंसको की सदैव भारी भीड़ जमा होती है जिसमें सुलझे हुए आलोचक, साहित्य-मनीपी तथा सामान्य काव्य-प्रेमी, सभी श्रेणियो के स्रोता शामिल होते है।

डॉ० नारायण रेड्डी शैक्षणिक तथा प्रशासकीय दोनो ही क्षेत्रों में उच्च पदों पर रहे हैं। आन्ध्र प्रदेश राजभापा आयोग के अध्यक्ष तथा आन्ध्र प्रदेश सार्वत्रिक विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पदों को अलंकृत करने के पश्चात् सम्प्रति आप तेलुगु विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं।

स्पृहणीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए मनोनीत होने से पूर्व उन्होंने अनेक पुरस्कार प्राप्त किये है जिनमे केन्द्रीय तथा राज्य साहित्य अकादमियों के पुरस्कार, सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार कुमारन् आशान पुरस्कार (केरल), भारतीय भाषा परिषद् (कलकत्ता) का भीलवाड़ा पुरस्कार, मोहिनी दास पुरस्कार तथा राजलक्ष्मी पुरस्कार (मद्रास) मुख्य हैं। पद्मश्री, कलाप्रपूर्ण तथा डी० लिट० की उपाधियों से भी वे सम्मानित किये गये। विद्वत्ता तथा सफलता, उपलब्धियाँ तथा पुरस्कार, प्रशस्तियां तथा सम्मान उनके लिए सहजभाव से ग्राह्य बन जाते है और उनसे उनकी समचित्तता या उनके मिलनसार व्यक्तित्व पर कोई अन्तर नही पड़ता।

डॉ० रेड्डी आन्ध्र प्रदेश के करीमनगर जिले के एक दूर दराज के गांव हनुमाजीपेट के एक कृषक-परिवार के है। उनके पिता का नाम श्री मल्ल रेड्डी तथा मां का नाम श्रीमती बुच्चम्मा है। उनका गांव तब निज़ाम की रियासत में होने के कारण उनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू माध्यम से हुई। इससे उर्दू भाषा और उसके अदब पर उनकी अच्छी-खासी पकड़ है। किशोरावस्था मे उन पर लोक गीतों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित हरि-कथा, वीथि-भागवत आदि लोकशैलियों की गहरी छाप पड़ी। उनके मनपसंद छंदों तथा उनके निर्वाह पर इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वे संगीत-प्रेमी हैं और सुमधुर कंठ के स्वामी है जिसका वे अपने काव्य-पाठों में पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। यद्यपि उनकी समस्त कृतियों को किसी प्रकार-प्रक्रम के अन्तर्गत प्रस्तुत करना संभव नही, फिर भी, कवि के रूप में उनके विकास-क्रम को विभिन्न चरणों में समीक्षित किया जा सकता है। वे हैं रोमानी, प्रगतिशील, मानवतावादी तथा प्रगतिशील-मानवतावादी चरण। कवि के चिन्तन-क्षेत्र में पृथक-पृथक कक्ष दर्शाने के लिए इन चरणो का उल्लेख नही किया जा रहा है। यह वर्गीकरण कवि की विकास-यात्रा में पड़ने वाले किसी एक पड़ाव से जुड़ी रचनाओ मे पाये जाने वाले सर्वप्रमुख तत्व को निर्दिष्ट करने मात्र के लिए है। फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन सभी चरणों के दौरान मनुष्य की अन्तर्निहित अच्छाई और अन्ततः सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक बुराई पर उसकी विजय की अवश्यंभाविता में कवि की गहन एव अटूट

आस्था एक अन्तर्धारा की भांति निरन्तर प्रवहमान रहती है। उनके काव्य-जीवन का प्रारम्भ किशोरावस्था से हो गया था और वे तभी से शांति तथा प्रगति के लिए प्रतिबद्ध हैं। वे मनुष्य की विजय के प्रति सदैव आश्वस्त रहते हैं। यही कारण है कि उनके काव्य मे निराशा का कोई स्वर नही मिलता। वे जीवन की जटिलताओं और मानव-जीवन पर उनके प्रभावों की सहानुभूतिपूर्ण समझ रखते हैं।

उनके लिए जीवन कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसे किसी भी प्रकार जिस किसी साधन से सुलझाना ही है, और न वह कोई रमणीय सुखात्मक कथा है जिसका प्रफुल्लतापूर्ण आस्वादन किया जाये। वह तो कठोर परिश्रम और मानव-कल्याण की सिद्धि के लिए साधना-स्थल है। वे इतने आदर्शवादी तो है कि सपने देखें, पर साथ ही इतने व्यावहारिक भी हैं कि उन आदर्शों को अधिक से अधिक चरितार्थ करने का भरसक प्रयास करें। आपस में सद्भावपूर्ण तथा सदय आचारण करते हुए आधुनिक जगत मे सर्वग्रासी रोग के रूप में व्याप्त अत्याचार के विरुद्ध जिहाद छेड़े रखने मे मानवमात्र की क्षमता के प्रति बलवती आस्था की ठोस भूमि पर उनका यह स्वप्न टिका है। कवि के इन सभी विकास-चरणों में उनका काव्य निर्वाक जूझते दुनिया के करोडों लोगों को अपने ढंग से निरन्तर वाणी देता रहा है।

स्वभावतः उनकी तरुणाई का काव्य रोमानी उमंग से परिपूर्ण है। केवल इसलिए नही कि तब वे तरुण थे, बल्कि इसलिए भी कि उस समय के तेलुगु काव्य मे रोमानी कविता की रानी का बोलबाला था। रायप्रोलु सुब्बाराव, देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री, विश्वनाथ सत्यनारायण, जाषुआ तथा अन्य अनेक दिग्गज काव्यसाधना मे संलग्न थे। यद्यपि कुछ समय तक वे रोमानी भाव-गीतिका के प्रभा-भास्वर पंखों पर आसीन रहे, फिर भी उनका यथार्थ से सम्पर्क कभी नही टूटा जो उनके रोमानी मुलम्मो से हमेशा झांकता रहा। उदाहरणस्वरूप उनके इस दौर के कतिपय प्रारंभिक काव्य-सकलन जलपातम् (जलप्रपात, 1953), नारायण रेड्डी गेयालु (1955) और दिव्वेल मुव्वलु (प्रकाश के घुघरू, 1959) इस बात की पुष्टि करते हैं और साथ ही इन रचनाओं मे भाषा तथा बिम्बविधान पर

उनके अधिकार तथा प्रकृति एवं सौन्दर्य के प्रति उनके अनुराग का प्रमाण मिलता है।

डॉ० रेड्डी के काव्य के रोमानी दौर की सर्वाधिक प्रतिनिधि काव्य-रचना 'कपूर वसन्तुरायलु' है जिसका प्रकाशन 1956 में हुआ था जब कि वे केवल 26 वर्ष के थे। इस कविता ने उन्हे अग्रणी कवियों मे प्रतिष्ठित कर दिया और वे अपने सभी समवर्ती कवियों का मुकाबला करने योग्य हो गये। (पर उन्होंने ऐसा कभी किया तो नही। डॉ० रेड्डी अपनी विनम्रता, बड़ों के प्रति आदर-भाव तथा अपने समकालीन कवियों की हार्दिक प्रशंसा के लिए ख्यात रहे है।) वरिष्ठ कवियों को भी यह श्रेय है कि बिना किसी अपवाद के प्रत्येक ने डॉ० रेड्डी का स्वागत किया और उनको अपनी शुभ-कामनाएँ दी। कर्पूर बसन्तरायलु एक बृहत काव्य है जिसमें एक मध्य-कालीन रेड्डी राजा कुमार गिरि जो स्वयं एक कवि एवं विद्वान, कला का पारखी तथा संरक्षक था, और गरिमा तथा सुन्दरता की प्रतिमा राजनर्तकी लकुमा के प्रणय का चित्रण किया गया है। यह राजा वसन्तोत्सव धूमधाम से मनाने में रुचि रखता था, परिणामतः उसका उपनाम ही वसन्तराय हो गया, जो कि काव्य का शीर्षक भी है। गीतात्मक अभिव्यक्ति की प्रांजलता, रसनिष्यंदिनी भाषा, चित्ताकर्षक बिम्ब-योजना, श्रुतिसुभग माधुर्य तथा लालित्यपूर्ण लय की दृष्टि से इसकी समता करने वाले काव्य उस समय बहुत कम थे। इस काव्य में प्रयुक्त शिल्प, भाषा पर अधिकार तथा बिम्ब-योजना अत्यधिक प्रभावकारी हैं। यह रोमानी कविता का चरमोत्कर्ष है और इस रूप में यह काव्य सबके समादर का पात्र बन गया है। इस चरण से सम्बन्धित उनके कल्पनात्मक काव्य-लेखन का एक और ज्वलंत उदा-हरण है ऋतुचक्रम् (1964) जिसने कवि को आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी का पुरस्कार दिलाया। मंटलू-मानवुडू (लपटें और मनुष्य, 1960) ने कवि की विकास-यात्राओं में एक नये चरण का सूत्रपात किया। उनके यथार्थवादी तथा प्रगतिशील लेखन के चरण की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने इसे पुरस्कृत किया। वर्तमान समाज में आत्यंतिक स्थितियों के बीच चिथड़े-चिथड़े होते मनुष्य की दुर्दशा कवि को यातना देती है। वे ऐसे लोगों से दो-चार होते है जिनके हाथों में

जहां कुछेक कवि राजनीतिक भाव को काव्यरूप पर हावी होने देते है, वहीं डॉ० रेड्डी सबसे पहले और मूलतः एक कवि हैं, एक उद्देश्यपरक कवि, उसके बाद कुछ और। उनका उद्देश्य अपने काव्य द्वारा एक न्यायपूर्ण समाज के विकास को समर्थन देना है। जैसा कि वे स्वयं भी कहते है, उनकी कविता 'वामपंथी प्रवणता से युक्त न्यायसगत आक्रोश में' है। कवि के रूप में उनकी चिरस्थायी सफलता का यही रहस्य है।

किसी महान कवि की रचनाओं के समान डॉ० रेड्डी के काव्य मे भी हम विभिन्न चरणों की परस्पर व्याप्ति पाते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इन चरणों को अन्यत्र दुर्लभ नही मानना चाहिए। कवि के विकास और प्रगति की प्रक्रियाएं क्रमिक और निरंतर है, ऊंची छलांगें नहीं। डॉ० रेड्डी के काव्य मे इन चरणों की एकदम सटीक विभाजक रेखाएं ढूंढ निकालने का प्रयत्न तक करना व्यर्थ होगा क्योंकि कही-कही वे परस्पर व्यापक हो जाती है। उनके मानवतावादी तथा प्रगतिशील मानवतावादी चरणों में विभाजन रेखाओं का यह अतिक्रमण और भी स्पष्ट लक्षित होता है, क्योंकि परस्पर सूत्रबद्धता के कारण इन दोनो के बीच की विभाजक रेखाए कुछ और न होकर केवल अभिप्रायात्मक ही हैं। वस्तुतः ये दोनों चरण एक ही सूत्र से अनुस्यूत है, अन्तर है तो मात्र बलाघात का। कुछ और अधिक ध्यान से देखें तो हम इस सूत्र की छाया, प्रगतिशील चरण में भी देख सकते हैं और रोमानी चरण तक में एक सच्चा कवि होने के नाते डॉ० रेड्डी अपने दृष्टिकोण मे सदा प्रगतिशील तथा मानवतावादी बने रहते हैं। ये उनकी कविता के मूलभूत तत्त्व हैं, उनके आलंकारिक कपडों के ताने-बाने।

1977 में प्रकाशित रचना 'भूमिका' मानवतावादी चरण की सर्वाधिक उल्लेखनीय रचना है। इसमें मानव-उत्पत्ति से लेकर उसकी अब तक की प्रगति का वर्णन है। यद्यपि इसमें आदि युग्म, आदम और हव्वा, की सृष्टि से लेकर आज तक की मनुष्य की उपलब्धियों का वृत्तान्त बडी सूक्ष्मता के साथ कहा गया है, तथापि किसी नाम का उल्लेख नही है। हमें सर्वत्र मनुष्य मात्र के दर्शन होते है, अपराजेय, अपने अदम्य उत्साह, संयत साहस और दृढ़ निश्चय के साथ प्राकृतिक आपदाओं या मनुष्य-

निर्मित विपत्तियों का सामना करता हुआ, अपनी समस्याओं का हल ढूढ़ निकालने में तत्पर। यह कहानी स्वयं में प्रतीकात्मक और अपने दृष्टि-कोण मे आशावादी है। यहां हम अनुभवसिद्ध तथा आध्यात्मिक और बौद्धिक तथा भावनात्मक के बीच एक सुखद समझौता पाते हैं। यह इस-लिए संभव हुआ है क्योंकि कवि की सहज अन्तर्दृष्टि उसके अन्तर्ज्ञान में बहुत गहरे तक उतरी हुई है और पदार्थ के बारे में पुख्ता जानकारी पर आधारित है। युग-में, वैदिक काल से लेकर आज तक की कविता की प्रगति का विकास रेखात्मक वर्णन एक कल्पनात्मक एवं उद्बोधक शैली में बिना किसी का नाम लिए किया गया है। उनका काव्य मूलत: जीवन की अभिपुष्टि का काव्य है और उन्हें उसे उसके सम्पूर्ण बहुमुखी गौरव और उसके समस्त कोलाहल सहित चित्रित करने में सर्वानुभूति होती है। उनकी कविता अनुभव की कविता है, उसे पूरी तीव्रता के साथ अपने पाठकों तक पहुंचाने की क्षमता मे ही उनकी सफलता का रहस्य छिपा है। वे किसी एक काव्य-रूप से बंधे नही है, बल्कि कथ्य के सर्वाधिक अनुकूल काव्य-रूप का चयन करते है और हम यहां तक कह सकते हैं कि कथ्य अपना काव्य-रूप स्वयं चुन लेता है। उनकी कृतियां अपने दुर्लभ भाव-बोध तथा अपनी दुर्लभतर सृजनात्मक प्रतिभा के कारण विशिष्ट है। उनमें यथार्थ का सुविधाजनक टुकडो मे नहीं, बल्कि उनकी समग्रता में अनुभव करने का सामर्थ्य है। भूमिका इसका एक गौरवपूर्ण उदाहरण है। जैसा कि नाम से ही झलकता है, यह रचना अगली रचना 'विश्वंभरा' की भूमिका का काम करती है।

1980 मे प्रकाशित विश्वंभरा डॉ० नारायण रेड्डी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें कोई सदेह नही कि आगामी वर्षों में वे और भी ऊंचाइयों तक पहुचेंगे और उसकी महत्तम कृति अभी लिखी जानी है।

☐ तेलुगु को ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने का गौरव दिलाने वाले डॉ० रेड्डी दूसरे रचनाकार है। इनसे पूर्व तेलुगु को यह अवसर मिला रामायण कल्पवृक्षमु के लिए वर्ष 1970 का छठवां पुरस्कार पाने वाले महा-कवि विश्वनाथ सत्यनारायण के माध्यम से।

कुर्रतुल ऐन हैदर

जन्म : 1927

प्रमुख कृतिया : कार-ए-जहां दराज है,
आखिर-ए-शब के हमसफर,
रोशनी की रफ्तार

भापा : उर्दू

विधा : उपन्यास

पुरस्कार अवधि : 1969-83 के बीच
भारतीय साहित्य मे सर्वोत्कृष्ट योगदान

पुरस्कार अर्पण : 9 जनवरी, 1991
फिक्की सभागार, नयी दिल्ली

पुरस्कार राशि : दो लाख रुपया

पच्चीसवां पुरस्कार : 1989

कुर्रतुल ऐन हैदर

कुर्रतुल ऐन हैदर का जन्म सन् 1927 में अलीगढ़ में हुआ जहाँ उनके पिता, सज्जाद हैदर यिल्दिरम्, मुस्लिम विश्वविद्यालय में रजिस्ट्रार थे। उनके परिवार में तीन पीढ़ियों से लिखने की परम्परा रही है। उनके पिता यिल्दिरम् की गणना उर्दू के प्रतिष्ठित कथाकारों में होती है। उनका उल्लेख किए बिना उर्दू कथा-साहित्य का कोई इतिहास सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुर्रतुल ऐन हैदर की मां, नज़र सज्जाद हैदर 'उर्दू की जेन आस्टिन' कहलाती थी। वे अपने समय की पायनियर थीं और बीसवी शताब्दी के आरम्भिक दशकों में समाज-सुधार विषयक उपन्यास लिखकर नवजागरण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा चुकी थी। उन्होने कई उपन्यास लिखे जो प्रसिद्ध भी हुए। नज़र सज्जाद हैदर की बुआ, अकबरी बेगम भी अपने समय की प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका थी। परिवार की अन्य कई महिलाएं भी उर्दू-फ़ारसी मे शायरी करती थी। कुर्रतुल ऐन का परिवार उत्तर भारत के उन घरानों में से था जिन्होने सबसे पहले आधुनिक सभ्यता अपनायी, पाश्चात्य संस्कृति के अंधाधुंध अनुकरण में नहीं, वरन् पूर्णत: समझ-बूझकर जीवन की नई राहों और धाराओं को स्वीकार करते हुए।

कुर्रतुल ऐन हैदर का नाम उनके अप्रतिम व्यक्तित्व और विशाल कृतित्व के कारण एक मिथक बन चुका है। लगभग पिछले चार दशकों से वे साहित्य-सृजन से पूर्णत: जुड़ी हुई हैं। निरन्तर लिखते रहने के बावजूद उन्होंने कभी भी श्रेष्ठता के मापदण्डों से समझौता नही किया। उपन्यास, लघु उपन्यास, कहानी, समीक्षा, संस्मरण, रिपोर्ताज, यात्रा-वृतान्त आदि गद्य विधाओं को अपने लेखन से समृद्ध और समुन्नत कर उर्दू साहित्य में उन्होंने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। आज भी उनकी कृतियों की ताज़गी और आकर्षण मे कोई कमी नहीं दिखायी देती। 'मेरे भी

सनमखाने', 'सफ़ीना-ए-गमे-दिल', 'आग का दरिया', 'कार-ए-जहाँ दराज़ है', 'आखिर-ए-शब के हमसफ़र', 'गर्दिश-ए-रंग-ए-चमन' और 'चादनी बेगम' जैसे उत्कृष्ट उपन्यास, 'सीता-हरण', 'चाय के बाग', 'दिलरुबा' और 'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो' जैसे लघु-उपन्यासो के अतिरिक्त उन्होंने बहुत-सी कहानियाँ, मनोरम यात्रा-वृतान्त, संस्मरण, समीक्षाएं और रिपोर्ताज भी लिखे हैं। इन सभी गद्य-विधाओं मे अपनी अनुपम रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देती हुई उन्होंने अन्य लेखको के लिए एक नया मानदण्ड स्थापित किया है। साथ ही, उन्होने कुछ विश्व-विख्यात लेखकों की सर्वोत्तम कृतियों के उर्दू में अनुवाद भी किये है।

कुर्रतुल ऐन को लिखने का शौक बचपन से ही रहा है। प्रारम्भ में उन्होंने बच्चों के लिए कई कहानियां लिखी जो लखनऊ के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'फूल अखबार' में प्रकाशित हुईं। उनकी पहली मौलिक कहानी प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'साकी' मे प्रकाशित हुई। सम्पादकीय में इसकी प्रशंसा विशेष उल्लेख सहित की गयी थी। इससे उन्हे बहुत प्रोत्साहन मिला और वे निरन्तर लिखती चली गयीं। अपने लेखन में उन्होंने कभी किसी के अनुकरण का प्रयास नही किया, जो कुछ भी लिखा अपने जीवनानुभव, कल्पना और चिन्तन के आधार पर ही लिखा।

सन् 1947 में कुर्रतुल ऐन ने लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष उनकी कहानियों का पहला संग्रह 'सितारों से आगे' प्रकाशित हुआ। इसमें संकलित लगभग सभी कहानियाँ उर्दू में अपने ढंग की अनूठी रचनाएं थीं। उनमे घटनाओं की अपेक्षा उनसे जन्म लेने वाली अनुभूतियों और संवेदना को विशेष महत्त्व दिया गया। इन कहानियों द्वारा पाठक के सम्मुख एक अपरिचित-सी दुनिया प्रस्तुत की गयी थी जिसमें जीवन की अर्थहीनता का संकेत था, हर तरफ छायी हुई धुंध थी, एक मनोग्राही शायराना उदासी थी। नई कहानी के उदभव और विकास मे कुर्रतुल ऐन हैदर की ये कहानियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

1950 से 1960 के मध्य वे अधिकतर लंदन में रहीं जहाँ उन्होंने 'डेली टेलिग्राफ़' और 'बी. बी. सी. के संवाददाता के रूप में काम किया।

भारत लौटने के बाद उन्होंने बम्बई मे 'इम्प्रिंट' के मैनेजिंग एडिटर के रूप में काम किया। उसके बाद लगभग सात वर्ष वे 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया' के सम्पादन विभाग से सम्बद्ध रहीं। 1975-76 में वे फिल्म सेंसर बोर्ड के अध्यक्ष की सलाहकार रही। कुर्रतुल ऐन हैदर 1981-82 में अलीगढ विश्वविद्यालय मे विजिटिंग प्रोफेसर रही।

कथा लेखन के अतिरिक्त उन्हें ललित कलाओं में भी गहरी रुचि है, विशेषतया संगीत और चित्रकला में। 'गर्दिश-ए-रंग-ए-चमन' में उनके कई रेखांकन भी प्रकाशित हुए हैं।

कुर्रतुल ऐन हैदर का पहला उपन्यास 'मेरे भी सनमखाने' 1949 मे प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास भारत की समन्वित संस्कृति के माध्यम से मानवता की त्रासदी प्रस्तुत करता है। भारत की वह सामासिक संस्कृति जो यहाँ रहने वाले हिन्दू-मुस्लिम समुदायों के लिए प्रेम और एकता का प्रसाद और गौरव का प्रतीक थी, देश-विभाजन के बाद खण्डित हो गयी। यह पीडा 'मेरे भी सनमखाने' में लखनऊ के कुछ आदर्शवादी अल्हड़ एवं जीवन्त लडके-लड़कियों की सामूहिक व्यथा-कथा के माध्यम से बड़े ही मार्मिक रूप मे दर्शायी गयी है।

1952 में कुर्रतुल ऐन हैदर का दूसरा उपन्यास 'सफ़ीना-ए-गम-ए-दिल' प्रकाशित हुआ और 1954 मे उनकी कहानियों का दूसरा संकलन 'शीशे के घर'। इस संकलन में 'जलावतन', 'यह दाग-दाग उजाला' तथा 'लन्दन लेटर' कहानिया विशेष उल्लेखनीय हैं। 'जलावतन' में भी भारतीय सामाजिक संस्कृति की त्रासदी एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की गयी है। इसमे सम्बन्धो के टूटने, परिवारों के बिखरने और मानवीय मूल्यो के चूर-चूर होने की करुण कहानी कही गयी है। ये रचनाएं लेखिका की सृजनशीलता और कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रतिमान और उनकी गहन सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक चेतना का प्रमाण कही जा सकती है।

दिसम्बर 1959 मे कुर्रतुल ऐन हैदर का सुप्रसिद्ध उपन्यास 'आग का दरिया' प्रकाशित हुआ जिसने साहित्य-जगत् में तहलका मचा दिया। यह उपन्यास अपनी भाषा-शैली, रचनाशिल्प, विषयवस्तु और चिन्तन, हर दृष्टि से एक नई परम्परा का सूत्रपात करता है, अतः पाठकों के साथ-साथ

आलोचकों के लिए भी एक चुनौती सिद्ध हुआ है। इसमें विगत ढाई हज़ार वर्षों की व्यापक पृष्ठभूमि में भारतीय जीवन का ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और भावात्मक यथार्थ अत्यन्त कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है।

'आग का दरिया' में देश से बेहद आत्मीयता की सशक्त भावना है, भारतीय दर्शन और चिन्तन की एक नई सृजनात्मक व्याख्या है, हिन्दू-मुस्लिम सामासिक संस्कृति की समस्या है, प्यार करने वाले दिलों की कहानी है, स्वतंत्र विचार-प्रवाह है और सबसे बड़ी, अटल और महान् शक्ति है समय जो एक विचित्र अजर-अमर पात्र के रूप में 'आग का दरिया' की प्रत्येक मंजिल में विद्यमान है।

'पतझर की आवाज़' (1967) और 'रोशनी की रफ़्तार' (1982) शीर्षक संकलनों की कहानियां क़ुर्रतुल ऐन हैदर की कला और चिन्तन की नई दिशाओं और आगोशों की उद्बोधक हैं। 'हाउसिंग सोसाइटी', 'कारसेन', 'डालनवाला', 'याद की एक धनुक जले', 'हसब-नसब', 'कोहरे के पीछे' और 'पतझर की आवाज़' जैसी सशक्त यथार्थवादी कहानियों के साथ 'रोशनी की रफ़्तार', 'मल्फ़ूज़ाते हाजी गुलबाबा वक्ताशी' तथा 'सेंट फ़्लोरा ऑफ़ जॉर्जिया' भी उनमें शामिल है। 'पतझर की आवाज़' पर लेखिका को 1967 का साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया। 1969 में उन्हें अनुवाद कार्य के लिए सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार प्राप्त हुआ, फिर 1985 में गालिब अवार्ड और 1987 में इकबाल सम्मान प्रदान किया गया।

'आग का दरिया' जैसे बहुचर्चित और अद्वितीय उपन्यास के बाद क़ुर्रतुल ऐन हैदर ने 1977 से 1979 के बीच 'कार-ए-जहां दराज़ है' लिखकर आलोचकों को एक बार फिर उलझन में डाल दिया। दो भागों में प्रकाशित इस उपन्यास को गद्य-विधाओं की पारम्परिक परिभाषाओं में बांधना असंभव हो गया। कई आलोचकों ने इसे उपन्यास ही मानने से इन्कार कर दिया। कुछ ने इसे मात्र एक परिवार विशेष का इतिहास बताया। किसी ने कहा कि यह इतिहास ही नहीं है। कुछेक ने इसे आत्म-कथा की संज्ञा दी तो कुछ इसे आत्मकथा मानने को तैयार नहीं थे। स्वयं

लेखिका ने इसे 'नॉन-फ़िक्शन नॉवल' कहा है क्योंकि उसमें गत तीन सौ वर्ष के सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में उनके अपने परिवार का इतिहास एक उपन्यास के रूप में निबद्ध है।

'कार-ए-जहां दराज़ है' के बाद क़ुर्रतुल ऐन हैदर के तीन और उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, 'आख़िर-ए-शब के हमसफ़र', 'गर्दिश-ए-रंग-ए-चमन' और 'चांदनी बेगम'। 'गर्दिश-ए-रंग-ए-चमन' एक अर्ध-दस्तावेज़ी उपन्यास है। इसे लिखने के लिए लेखिका को बहुत शोधकार्य करना पड़ा। इसमें उत्तर प्रदेश के सामंतवादी ग्रामीण समाज का चित्रण करते हुए उसके एक अभिन्न अंग के रूप मे सूफ़ीवाद को भी विषय बनाया गया है। पीर साहब के चरित्र के माध्यम से सूफ़ी जीवन का मनोरम चित्र यहां प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास मे समाज के विभिन्न समुदायों का चित्रण हुआ है और उसकी सहगामी कथाओं में सूफ़ी जीवन का चित्रण भी हुआ है। समाज में व्यापक प्रबल पूर्वाग्रहो में से एक है नारी की नितान्त असहायता का जनक, और यही इस उपन्यास की मूल विषयवस्तु है।

एक उपन्यासकार के रूप में कुर्रतुल ऐन हैदर की गणना उर्दू के तीन महान् कथाकारों रतननाथ 'सरशार', मिर्ज़ा हादी 'रुसवा' और प्रेमचन्द के साथ की जाती है। कहानीकार के रूप में भी उन्होने उर्दू साहित्य को अविस्मरणीय योगदान दिया है जिसके आधार पर उनका नाम प्रेमचन्द, राजेन्द्र सिंह बेदी, किशन चन्दर और सआदत हसन मन्टो के साथ लिया जाता है।

नि.संदेह क़ुर्रतुल ऐन हैदर का कथा-साहित्य अपनी अप्रतिम लेखनकला, भाषा-शैली, तकनीक और चिन्तन की दृष्टि से उर्दू साहित्य की एक बहुमूल्य उपलब्धि कहा जा सकता है। मानव और मानवीय मूल्यों में अडिग विश्वास और आस्था के साथ जीवन के विविध अनुभव और विशाल असीम प्रकृति में जीवन-यापन करता मनुष्य और उसकी समस्याएं, उसकी जटिलताएं, उसकी निर्बलता, उसकी विवशता, उसकी हंसी, उसके आंसू और प्रतिक्षण बदलती स्थितियों का विश्वस्त चित्रण उनके कथा साहित्य के प्रमुख विषय हैं। उनकी कोई भी कृति इस महान् देश की विशेष गौरवशाली संस्कृति, उसके इतिहास, उसकी चिन्तन-परम्परा, उसकी धरती और

उनके जीवन से अलग नहीं की जा सकती। वस्तुतः उर्दू कथा-साहित्य के माध्यम से उन्होंने भारतीय साहित्य को गरिमा प्रदान की है, उसका सिर बुलंद किया है।

- उर्दू को ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने का गौरव दिलाने वाली क़ुर्रतुल ऐन हैदर दूसरी रचनाकार हैं। इनसे पूर्व उर्दू को यह गौरव मिला था—कवि रघुपति सहाय 'फिराक' गोरखपुरी की पुस्तक 'गुलेनगमा' के जरिए, जिसे वर्ष 1969 का पांचवां ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

- क़ुर्रतुल ऐन हैदर ऐसी पहली रचनाकार है जिन्हें पुरस्कार के रूप में दो लाख रुपया समर्पित किया गया। इस पच्चीसवें पुरस्कार से पूर्व, पहले से सोलहवें पुरस्कार तक पुरस्कार स्वरूप एक लाख रुपया और सत्रहवें से चौबीसवें पुरस्कार तक डेढ़ लाख रुपये की राशि पुरस्कार स्वरूप समर्पित की जाती रही थी।

- क़ुर्रतुल ऐन हैदर को पुरस्कार समर्पित किये जाने का अवसर पहला ऐसा अवसर था जब पुरस्कार विजेता के अतिरिक्त मंच पर पूर्व पुरस्कृत कई रचनाकार भी मौजूद थे। सुश्री हैदर के अतिरिक्त मंच पर उपस्थित थे—तेरहवें पुरस्कार से सम्मानित कन्नड़ कथाकार डॉ० के० शिवराम कारंत, पंद्रहवें पुरस्कार से सम्मानित असमिया कथाकार डॉ० बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य और सत्रहवें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पंजाबी की कवयित्री श्रीमती अमृता प्रीतम।